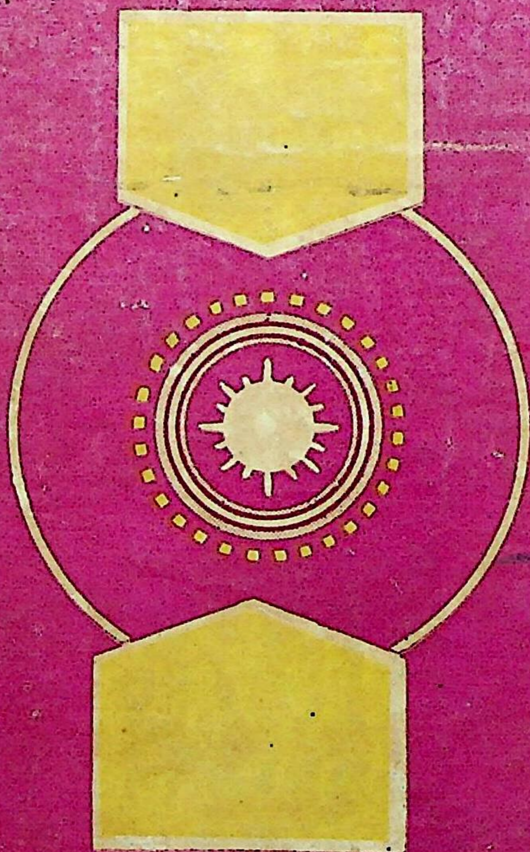
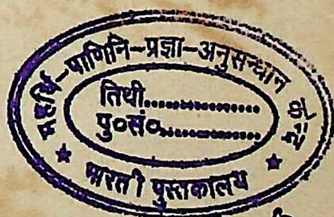
# वेद प्रवेशिका






महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी..................
पु०सं०..................
भारती पुस्तकालय

# वेद प्रवेशिका



## शाश्वत संस्कृति परिषद् का उद्देश्य

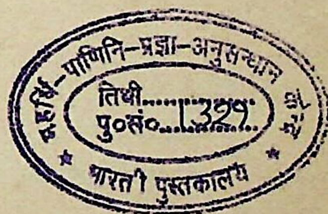
विशुद्ध भारतीय तत्त्व-दर्शन पर सम्यक् गवेषणा करना तथा उसका प्रचार करना एवं उसके आधार पर राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित सभी समस्याओं पर सुलझाव प्रस्तुत करना।

## परिषद् के अन्य प्रकाशन

१. ब्रह्मसूत्र सरल सुबोध भाषा-भाष्य
२. श्रीमद्भगवद्गीता एक अध्ययन
३. भारत गांधी नेहरू की छाया में
४. धर्म तथा समाजवाद
५. प्रजातन्त्र तथा वर्णाश्रम व्यवस्था
६. धर्म संस्कृति और राज्य
७. इतिहास में भारतीय परम्पराएँ
८. भारत में राष्ट्र
९. विज्ञान और विज्ञान
१०. विश्वे देवा:
११. समाजवाद और पूंजीवाद
१२. हिन्दू धर्म
१३. भारतीय राजनीति विभिन्न कालों में
१४. भारतीयकरण एक अध्ययन
१५. सांख्यदर्शन (भाष्य)

# वेद-प्रवेशिका

गुरुदत्त एम०एस-सी०

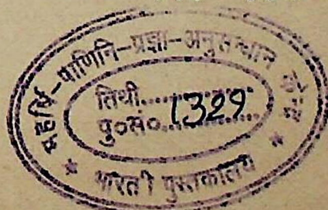



शाश्वत संस्कृति परिषद् नई दिल्ली-१

प्रकाशक : शाश्वत संस्कृति परिषद्,
३०/६० कनाट सरकस, नई दिल्ली-११०००१
वितरक : भारती साहित्य सदन सेल्स,
३०/६० कनाट सरकस, नई दिल्ली-११०००१
मूल्य : छः रुपये केवल
मुद्रक : विकास आर्ट प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

# विषयानुक्रमणिका





## शाश्वत संस्कृति परिषद्

शाश्वत का अर्थ है सदा रहने वाला, नित्य। जो नित्य है, वह सबके लिये है। किसी जाति अथवा किसी देश विशेष से इसका एकाकी सम्बन्ध नहीं हो सकता।

हम यह मानते हैं कि ज्ञान का मूल स्रोत परमात्मा है और परमात्मा का ज्ञान वेद ज्ञान है। यह ज्ञान प्राणीमात्र के लिये है।

जैसे एक वृक्ष, जिसका सम्बन्ध मूल से कट गया हो, कुछ काल तक तो हरा-भरा रह सकता है, परन्तु वह शीघ्र ही सूखने और सड़ने लग जाता है, इसी प्रकार मानव समाज भी, परमात्मा के मूल ज्ञान से विच्छिन्न हो सूख तथा सड़ रहा है। मानव-समाज मानवता-विहीन हो रहा है।

इस मानव-समाज को पुनः ज्ञान के उस मूल स्रोत वेद से जोड़ने का एक प्रयास ही यह शाश्वत संस्कृति परिषद् है।

वेद-ज्ञान पर अगाध श्रद्धा रखते हुए उस ज्ञान को प्राप्त करने तथा सब जनों को कराने का यह एक प्रयास विज्ञ लेखक ने किया है। विषय का इतना सरल प्रस्तुतीकरण कदाचित् ही सम्भव हो। इसके लिये हम श्री गुरुदत्त जी के अत्यन्त आभारी हैं।

शाश्वत संस्कृति परिषद्,
नई दिल्ली।

अशोक कौशिक
मंत्री








# प्राक्कथन

**स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।। तै०आ०७-११-१**

वेदाध्ययन से पूर्व कुछ प्रारम्भिक बातों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। उन प्रारम्भिक बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही इस पुस्तिका को लिखा गया है।

यह सम्भव है कि वे सब बातें इस पुस्तिका में न लिखी गयी हों जिनका ज्ञान इस विद्या के जानने के लिए आवश्यक है, इस पर भी जिनका उल्लेख यहाँ किया गया है, इनको एक सामान्य पाठक वेदाध्ययन में सहायक पायेगा।

मैं स्वयं को वेद-विद्या का विद्यार्थी समझता हूँ और यही कारण है कि मैं उन प्रारम्भिक कठिनाइयों को, वेदों के उन प्रकाण्ड विद्वानों से, जिनको अपनी विद्वत्ता प्राप्त करने के लिये गुरू चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अधिक समझ सका हूँ। मैं बहुत अधिक सीमा तक स्वाध्याय पर ही निर्भर करता रहा हूँ और बहुत अल्प मात्रा में गुरुजनों से सहायता प्राप्त कर सका हूँ। वेदाध्ययन में जो कठिनाइयाँ मेरे मार्ग में उपस्थित हुई हैं, और कठिनाइयों को पार करने में क्या कुछ अनुभव प्राप्त हुए हैं, उनको बताने से इस क्षेत्र में आने वाले नवीन पथिकों का कुछ तो पथ-प्रदर्शन होगा ही, इसी विचार से इस पुस्तक को लिखने का मैंने प्रयास किया है।

एक बात ने इस क्षेत्र में पदार्पण करने में मुझे उत्साहित किया है। वह है मेरा आधारभूत ज्ञान जो वर्तमान विज्ञान के अध्ययन से मैंने प्राप्त किया था। महर्षि स्वामी दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य के आरम्भ में यह कहा है—

···ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावाननया सा ऋक्, ऋक् चासौ वेदश्चर्ग् वेदः।

अर्थात्—ऋचायें पदार्थों की स्तुति करती हैं। अर्थात् उनके गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन करती हैं। ये ऋक् हैं और उनका संग्रह ऋग्वेद है।

अपने पदार्थ-ज्ञान के आधार पर वेदार्थ समझ सकने की आशा में मैं वेदाध्ययन के लिये प्रवृत्त हुआ तो कठिनाइयाँ मार्ग में आने लगीं और उनका मैं क्या अर्थ समझ सका, उनका वर्णन यहाँ कर रहा हूँ।

वेद के विधिवत् अध्ययन किये एक विद्वान के लिये यह वर्णन कुछ लाभ-

प्रद नहीं भी हो सकता। परन्तु स्वाध्याय करने वालों के लिये इसका कुछ तो लाभ होगा ही।

इन कठिनाइयों को पार करने का मार्ग पाने में कई ग्रन्थों का अध्ययन सहायक सिद्ध हुआ है। यदि उनमें से कुछ का नाम लिख दिया जाये तो उचित होगा। ये ग्रन्थ हैं—रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, सांख्य दर्शन।

जब मैंने वेद का अध्ययन आरम्भ किया था तो मुझे यह बताया गया था कि प्रत्येक मन्त्र पृथक्-पृथक् अर्थ रखते हैं। परन्तु जब मैं पढ़ने लगा तो वेद के सूक्तों का अर्थ समझने पर पूर्व-कथन भ्रान्त प्रतीत होने लगा।

फिर किसी ने बताया कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि का ज्ञान प्राप्त किये बिना मन्त्र का अर्थ समझा नहीं जा सकता। यह बात मेरी समझ में नहीं आयी।

स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि प्रकरण से भावार्थ का पता चलता है। तब प्रश्न उत्पन्न हुआ कि मन्त्रों और सूक्तों के प्रकरण कहाँ पता चलेंगे? इस प्रकार प्रत्येक कठिनाई उत्पन्न होने पर अध्ययन और विचार तथा ग्रन्थों के स्वाध्याय से कठिनाई पार की जाती रही है। परिणाम कुछ अच्छा ही निकला है। वेदग्रन्थों का एक बहुत ही सुन्दर, सुविज्ञ और अर्थयुक्त चित्र सम्मुख आने लगा है।

मेरे इस प्रयत्न में मेरा सबसे बड़ा सहायक महर्षि स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित ग्रन्थ 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' रहा है। 'सत्यार्थ प्रकाश' और फिर स्वामीजी के भाष्य भी बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

इनके अतिरिक्त लाहौर के डी० ए० वी० कालेज के प्राध्यापक विद्यामूर्ति पण्डित राजारामजी शास्त्री के आत्मज पण्डित शुचिव्रतजी शास्त्री एम० ए०, एम० ओ० एल० से भी निरन्तर सहायता प्राप्त होती रही है।

मैं इन सबका आभारी हूँ। इनसे उतरकर सायण भाष्य, स्कन्द स्वामी और वेंकट माधव के भाष्यों से भी मुझे सहायता मिली है। मेरा अध्ययन का ढंग ऐसा रहा है कि इनके परस्पर प्रतिकूल विचारों का प्रभाव नहीं हो सका। इसका एक नमूना मैंने पुस्तक के 'निर्वचन' के अध्याय में लिखा है।

मैं मानता हूँ कि वेदाध्ययन करते समय वेद पर श्रद्धा और वह भी ठीक ढंग पर होनी आवश्यक है। इसी कारण इस पुस्तिका का प्रथम भाग लिखा है। प्रथम भाग का अगले भागों से घना सम्बन्ध है।

१८/२८ पंजाबी बाग,
दिल्ली-११००२६

—गुरुदत्त

# खण्ड एक

: १ :

## वेद परमात्मा का ज्ञान है

वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है। महर्षि स्वामी दयानन्द की ऐसी घोषणा है। इसे भारतीय हिंदू समाज का एक बहुत बड़ा अंश स्वीकार भी करता है। वह वेदों को स्वतः प्रमाण मानता है। अभिप्राय यह कि इसमें कही बात के लिए वह किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझता।

परन्तु आज के काल में दो विकट स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। एक यह कि कुछ लोग वेद शब्द और श्रुति शब्द पर्यायवाचक मानने लगे हैं और श्रुति शब्द उन बहुत से ग्रन्थों का नाम है जो प्रथम कहे गये और सुने गये थे। इनमें वेदों के अतिरिक्त आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत, गीता इत्यादि भी हैं। वेदों के विषय में परम्परा यह है कि ये अनादि हैं और अपौरुषेय हैं। मनुष्य शरीरधारी होने से असीम नहीं हो सकता। अतः उसका ज्ञान भी असीम नहीं हो सकता। और मनुष्यकृत ग्रन्थ सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हो सकते।

दूसरी विकट स्थिति यह है कि पृथिवी पर और भारत में भी एक बहुत बड़ी संख्या में लोग ऐसे हो गए हैं जो परमात्मा के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। इस कारण ईश्वरीय ज्ञान को वे नहीं मानते।

अतएव वेद ज्ञान में प्रवेश पाने के लिए इन दो प्रारम्भिक विचारों के विषय में स्पष्ट ज्ञान हो जाये तो वेद अर्थ समझने में रुचि और सामर्थ्य आ सकती है।

प्रथम विचार के विषय में इतना समझ लेना आवश्यक है कि संस्कृत में लिखी प्रत्येक पुस्तक वेद नहीं हो सकती। वेद के अपने कुछ लक्षण होने चाहिएँ। केवल सुनी बात भी वेद नहीं हो सकती और न ही सुनी हुई बात सदैव सत्य होगी।

उदाहरण के रूप में संस्कृत भाषा में एक कथन है—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला।।
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्।।

इस कथन को प्रमाण मानने से पूर्व यह जानना आवश्यक नहीं क्या कि किसने यह कथन किया है ? यह जानना अनावश्यक है कि यह कहा गया किसी ने सुना है अथवा कहीं लिखा-पढ़ा गया है। सबसे आवश्यक बात यह है कि इसमें जो कुछ कहा गया है क्या वह प्रमाण से सिद्ध है ? क्या वह युक्ति-युक्त है ? और इसका अनुकरण करने से लाभ अर्थात् सुख प्राप्त होगा क्या ?

शरीर-विज्ञान के विरुद्ध और अनुभव से अति दुःखदायी होगा इस श्लोक के अनुसार कन्या का विवाह करना। अतः यह किसी ज्ञानवान का कथन नहीं हो सकता।

यही बात ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थों की है। ब्राह्मण, आरण्यकादि ग्रन्थ श्रुति होते हुए भी किसी मनुष्य के कहे गये हैं और उनमें सब बातें युक्तियुक्त एवं सांसारिक अनुभव के अनुसार नहीं हैं। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वे सदा और सर्वत्र प्रमाण हैं।

इसी कारण स्वामी दयानन्द यह मानते थे कि आरण्यकों से लेकर महाभारत तक लिखे ग्रन्थ आर्षग्रन्थ माने जा सकते हैं। इस पर भी वेदानुसार होने पर ही प्रमाण हैं एवं वेद-विपरीत होने पर न मानने योग्य हैं।

यह बात युक्तियुक्त भी है। परस्पर विरोधी ग्रन्थ प्रमाण नहीं हो सकते। मनुष्य अल्पज्ञ होने से सदा और सर्वत्र निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। उदाहरण के रूप में महाभारत एक ऋषि वेदव्यास का लिखा ग्रन्थ है। इस कारण महाभारत में लिखे को स्वतः प्रमाण मानने के लिये यह आवश्यक है कि पहले श्री वेदव्यास के सर्वज्ञ होने को सिद्ध किया जाये। यह श्री वेदव्यास का जीवन-चरित्र पढ़ने पर पता चलेगा कि वह मानवों की भाँति भूलें भी करते थे। अतः उनका लिखा ग्रन्थ सर्वत्र सत्य होगा, नहीं कहा जा सकता।

महाभारत में कही कई बातें अस्वाभाविक और अयुक्तिसंगत हैं। इस कारण न तो वेदव्यास सर्वज्ञ माने जा सकते हैं और न ही उनसे कही बातें बिना स्वतन्त्र प्रमाणों से सिद्ध किये स्वीकार करने योग्य हो सकती हैं। यही बात ब्राह्मणादि ग्रन्थों की है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि जो कुछ महाभारत आदि के विषय में कहा गया है, वही बात वेद के विषय में क्यों नहीं मानी जाती ?

हम भी यही मानते हैं कि कोई ऐसा प्रमाण होना चाहिये जो वेद के रचयिता का विचार छोड़कर, वेद को सत्य विद्या का ग्रन्थ सिद्ध करे। तब ही वेद की प्रमाणिकता स्वीकार की जा सकती है।

भूमण्डल में हिन्दू समाज के बाहर एक बहुत बड़ा जन-समूह है जो वेद को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानता। अतः वेद किसने और कैसे कहे, यह तो पीछे बतायेंगे। पहले यह सिद्ध करना चाहिये कि वेद में निर्भ्रान्त ज्ञान की बातें कही गयी हैं।

भारतीय विज्ञान ने, बिना किसी भी व्यक्ति की साक्षी लिये, वेद में लिखे के आधार पर ही निर्णय किया है कि वेद प्रामाणिक ग्रन्थ है।

भारतीय तर्क-शास्त्र ने यह कहा है कि आदि सृष्टि में मनुष्य को कोई ज्ञान देने वाला होना चाहिये। किसी ज्ञान देने वाले के अस्तित्व को माने बिना मानव उन्नति नहीं कर सकता था।

ऐसा देखा गया है कि यदि दुर्घटनावश आज भी कोई मनुष्य समाज की बातें सीखने से वंचित हो जाये तो वह कुछ भी सीख नहीं सकता। ऐसे उदाहरण मिले हैं जब किसी कारण विशेष कारण से कोई शिशु अपने माता-पिता और समाज से असम्बद्ध हो गया। उसकी निर्माण आयु व्यतीत होने पर वह फिर कुछ भी सीख नहीं सका।

एक बहुत ही शिक्षाप्रद उदाहरण अमेरिका के एक समाजशास्त्री आर० एम० मैकिवर ने अपनी पुस्तक 'सोसायटी' में वर्णन किया है। वह लिखता है—

The famous case of Kasper Hauser is peculiarly significant because this ill-starred youth was in all probability bereft of human contacts through political machinations and therefore his condition when found could not be attributed to a defect of innate mentality. When Hauser, at the age of seventeen, wandered into the city of Nuremberg in 1828, he could hardly walk, had the mind of an infant, and could mutter only a meaningless phrase or two. Sociologically it is noteworthy that Kasper mistook inanimate objects for living beings. And when he was killed five years later, a post-mortem revealed the brain development to be subnormal.

इसका अर्थ है—

कैस्परहाउजर का प्रसिद्ध मामला है। यह विशेष रूप में ध्यान देने योग्य है कि यह भाग्यहीन युवक सम्भवतः राजनीतिक दुर्भाव के कारण मानव

Ed. 1962 Macmillan & Co. Ltd. London, p. 44

सम्पर्क से वंचित कर दिया गया था। अतः उसकी अवस्था, जब वह पाया गया तो किसी मानसिक दोष के कारण नहीं कही जा सकती थी। जब सत्तरह वर्ष की वयस् में हाउज़र सन् १८२८ में न्यूरम्बर्ग की सड़कों पर घूमता पाया गया तो वह चल नहीं सकता था। उसका मानसिक विकास एक शिशु के समान था। वह केवल कुछ निरर्थक शब्द ही बड़बड़ा सकता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह विचारणीय है कि हाउज़र निर्जीव पदार्थों को जीवित प्राणी समझता था। जब वह मारा गया तो उसकी शव-परीक्षा की गयी और उसके मस्तिष्क का विकास बहुत निम्न प्रकार का था।

इसी लेखक ने और भी उदाहरण दिये हैं। इनसे लेखक भिन्न परिणाम निकालता है, परन्तु हमें इससे और ऐसे अन्य उदाहरणों से यह विदित होता है कि जब तक मनुष्य को कोई सिखाने वाला न हो, वह कुछ भी सीख नहीं सकता।

यदि वस्तुस्थिति यह है तो प्रथम मनुष्य को किसने ज्ञान दिया कि उसे सीधा हो पाँवों के बल चलना चाहिये, क्योंकि इससे वह सिर ऊँचा कर दूर तक देखता हुआ चल सकता है। काम चलाने योग्य शब्द उसे किसने सिखाये ? उसे मनुष्य की भाँति रहना तथा अन्य ज्ञान की बातें किसने सिखायीं ?

भारतीय दर्शनशास्त्री कहते हैं कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने मनुष्य को वेद ज्ञान दिया जिससे मनुष्य, मनुष्यों की भाँति रहना सीख गया।

## विकासवाद

पूर्वोक्त सिद्धान्त पर सन्देह करने वाले यह कहते हैं कि मनुष्य एकदम नहीं बना। यह संसार के धक्के खाता हुआ, धीरे-धीरे, निम्न प्रकार के जन्तुओं से वर्तमान उन्नत स्थिति में पहुँचा है। इस विचार को वह विकासवाद कहता है। इस वाद के अनुसार यह माना जाता है कि—

(१) सब प्राणी एक ही प्रकार के जन्तु अमीबा (amoeba) से बने हैं और इस विकास (अर्थात् जाति-परिवर्तन) में मनुष्य अन्तिम कड़ी है। इस अवस्था में पहुँचने के लिये उसे लाखों वर्ष लगे हैं। इस वाद को मानने वाले मानते हैं कि मनुष्य का पिता एक वनमानुष के ढंग का जन्तु रहा है जो आज-कल नहीं मिलता। आजकल की भाँति का मनुष्य आज से बीस-बाईस सहस्र वर्ष पहले यहाँ था। उससे पहले के उसके चिह्न नहीं मिलते।

भारतीय मत इस वाद (evolution theory) को अशुद्ध मानता है।

भारतीय विज्ञान कहता है—

(१) जाति सन्तति से बनती है। एक जाति के नर और मदीन सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। दो भिन्न जातियों के संयोग से सन्तान नहीं होती। इस कारण ये जातियाँ कभी भी एक नहीं थीं।

(२) जहाँ कई अंशों में मिलती-जुलती जातियों में नर-मदीन के संयोग से सन्तान होती भी है तो वह सन्तान आगे सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती। घोड़े और गधे के संयोग से खच्चर के बनने का विख्यात उदाहरण है। भेड़िये और कुत्ते में भी कभी सन्तान हो सकती है, परन्तु उससे आगे कोई नयी जाति बनती नहीं देखी जाती। भिन्न-भिन्न योनियों की सन्तान नपुंसक होती है।

यहाँ तक कि वनस्पतियों में भी एक ही जाति में पैबन्द लग सकती है। आम की आम से ही पैबन्द लगती है। कभी विजातियों के साथ पैवन्द नहीं लगती। उदाहरण के रूप में आम की सन्तरे के साथ पैबन्द नहीं लग सकती अथवा अमरूद की लोकाट से पैवन्द नहीं लग सकती। यह इस कारण कि दोनों की जातियाँ एक नहीं।

(३) इतिहास में आज से सहस्रों वर्ष पहले कुत्ते यहाँ थे। परन्तु कुत्ता तो कुत्ता ही रहा है। वह किसी प्रकार की कोई नवीन जाति उत्पन्न नहीं कर सका।

अतः हमारा (भारतीय विज्ञानवेत्ताओं का) यह मत है कि सब जातियाँ ऐसी ही उत्पन्न हुई हैं जैसी कि आज हैं। आदि सृष्टि से मनुष्य मनुष्य ही है और बन्दर बन्दर है।

भारतीय विज्ञान और वेद ऐसा ही मानता है। इसका खण्डन विकासवाद नहीं कर सका।

अतः यह मत तो है ही कि आदि काल से मनुष्य से मनुष्य ही बना चला आ रहा है।

एक जन्तु-जाति का दूसरी जन्तु-जाति में परिवर्तन होता दिखायी नहीं देता। साथ ही भारत में सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास लाखों वर्ष पुराना है। यदि मानव-सृष्टि केवल बीस-बाईस हज़ार वर्ष पुरानी है तो भारत का इतिहास अशुद्ध मानना होगा।

यह इतिहास की बात हम अपनी पुस्तक के दूसरे अध्याय में बतायेंगे। यहाँ हम विकासवाद के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिये एक अन्य युक्ति देते हैं।

विकासवादी कहते हैं कि बीस सहस्र वर्ष पूर्व मनुष्य एक वन

प्राणी जैसा जन्तु था और धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ वर्तमान स्थिति में पहुँचा है।

इससे यह स्पष्ट ही है कि आज से एक सहस्र वर्ष पुराना मानव अनुपात में असभ्य होना चाहिये और दो सहस्र वर्ष पुराना उससे अधिक असभ्य। और आज से छ:-सात सहस्र वर्ष पुराना मनुष्य तो सर्वथा असभ्य, अज्ञ और समाज-शास्त्र से अनभिज्ञ होना चाहिये।

परन्तु यूरोपियन विद्वान् यह मानते हैं कि वेद आज से चार-पाँच सहस्र वर्ष पुराने हैं।

यदि वेद में ऐसी बातें मिल जायें जिन्हें वर्तमान वैज्ञानिक पता कर फूले नहीं समाते तो क्या यह सिद्ध नहीं होता कि पूर्ण विकासवाद एक मिथ्या कल्पना है।

देखिये एक वेद मन्त्र है—

**ओ३म् इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायव स्थ देवो व: सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेनऽईशत माघशँ्सो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥**

(यजु० १·१)

अर्थ है—हे दिव्य गुणयुक्त सूर्य ! आप हमें अन्न, ऊर्जा और प्राण देते हैं। आप उन (अन्न, ऊर्जा और प्राण) से श्रेष्ठतम कर्म को करने के लिए हमें भली भाँति संयुक्त करें। हम ऐश्वर्य प्राप्त करें। न मारे जाने योग्य पशु (गाय, भेड़, बकरी इत्यादि) बहुत सन्तान वाले हमारे पास हों और हम ऐश्वर्ययुक्त हों। हमारे धनादि को चोर, ठग और डाकू छीनकर न ले जा सकें। वह (सूर्य) संसार की रक्षा करने वाला होवे और यजमान की बहुत-सी प्रजायें हों।

यह कथन न केवल एक सभ्य मनुष्य की कामना कही जा सकती है, वरन् यह वर्तमान विज्ञान के सर्वथा अनुकूल भी है। सूर्य इस पृथिवी पर अन्न उत्पन्न करने में सहायक होता है। बिना सूर्य के अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता। वर्तमान काल के, अपने को महान उन्नत मानने वाले वैज्ञानिक भी यह जानते हैं कि अन्न सूर्य ही उत्पन्न कर सकता है और पृथिवी की पूर्ण ऊर्जा सूर्य की दी हुई है।

हमारा प्रश्न यह है कि मनुष्य ने (पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार) पाँच सहस्र वर्ष पुराने वेद से अधिक इस दिशा में क्या सीखा है ? एक भी दाना अन्न का मनुष्य सूर्य की सहायता के बिना अभी तक बना नहीं सका।

तब विकासवाद का क्या अर्थ है ? वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य ने उन्नति नहीं की, वरन् कुछ अवनति ही की है।

तनिक विचार करिये। भारत में चारों वेदों को कण्ठस्थ करने वाले पुराने काल में काफी संख्या में मिलते थे। आजकल स्मृतियन्त्र में ह्रास हुआ है अथवा नहीं ?

इसी प्रकार अन्य शारीरिक उपलब्धियों में वैदिक काल से भारी ह्रास हुआ है। यदि इन पाँच-छः सहस्र वर्ष में इतना ह्रास हुआ है तो वनमानुष से मनुष्य कैसे बन गया ?

विकासवाद सर्वथा मिथ्यावाद है।

हमारा तो यह कहना है कि वेद में गूढ़ ज्ञान-विज्ञान की बात कही हैं और वेद भूमण्डल के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इससे सृष्टि में विकासवाद सिद्ध नहीं होता।

(४) ऊपर दिए यजुर्वेद के मन्त्र में यह बताया है कि अन्न सूर्य से निर्माण होता है। अन्न में मुख्य पदार्थ हैं 'कार्बोहाईड्रेट्स' और 'प्रोटीन'। प्रकृति में ये दोनों पदार्थ सूर्य रश्मियों की सहायता से बनते हैं। वैसे तेल (fatty oils) भी जो वनस्पतियों से निकलते हैं वे भी सूर्य रश्मियों की सहायता से बनते हैं। यह सब यजुर्वेद के कहे जाने के समय विदित था तो यह कहा जा सकता है कि यजुर्वेद के कहने वाला आज के वैज्ञानिकों से अधिक नहीं तो उन जैसा विद्वान अवश्य ही था।

परन्तु हमारे विचार में और भारतीय मान्यता के अनुसार वेद, वर्तमान रूप में, आज से लाखों वर्ष पहले के कहे ग्रन्थ हैं।

वेद में यह आया है कि वेद अपौरुषेय हैं। अर्थात् वे किसी पुरुष (ऋषि, मनुष्य, देवता तथा परमात्मा) ने नहीं कहे। वे अनादि हैं। परन्तु उनका अनादि स्वरूप तो ज्ञान में है। वर्तमान शब्दों में वे मानव-सृष्टि के होने के समय कहे गए। भारतीय परम्पराओं के अनुसार इसे कहे हुए अड़तीस-उनतालीस लाख वर्ष हो चुके हैं।

वेद के आविर्भाव का प्रकार और इसके काल के विषय में हम पृथक् एक अध्याय में लिखेंगे। यहाँ केवल इतना बताने से अभिप्राय है कि वेद अति प्राचीन ग्रन्थ होते हुए भी उत्कृष्ट ज्ञान-विज्ञान की बातें वर्णन करते हैं। इससे यह कहने में संकोच नहीं होता कि इनके रचने वाला कोई अत्यन्त विद्वान तत्त्व है। उसे ही भारतीय परम्परा में परमात्मा कहते हैं।

वेदों में उत्कृष्ट विज्ञान के विषय में एक मंत्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।।

ऋ० १-१-१

अर्थात्—अग्निम्=अग्नि की । इळे=स्तुति करता हूँ । पुरोहितम्=सृष्टि रचना से पहले जगत् को देने वाली । यज्ञस्य=यज्ञ रूपी कार्य का देवम्=देने वाली । ऋत्विजम्—जो समय-समय पर सृष्टि रचना करे। होतारम्—देने वाला । रत्नाधतमम्—धन-सम्पद देने वाले को ।

इस मन्त्र का अभिप्राय है कि इस संसार में यज्ञरूपी कर्म करने वाली अग्नि की, जो सृष्टि-रचना से पहले परमाणुओं में संयोग उत्पन्न करने वाली है और रत्नादि (संसार की अद्भुत सुखकारक वस्तुएँ) देने वाली है, की मैं स्तुति करता हूँ । स्तुति का अर्थ है गुण, कर्म और स्वभाव को जानना ।

अग्नि का अभिप्राय है ऊर्जा (energy)। यह मन्त्र भी संसार में उन्नति और ज्ञान को प्राप्त करने के साधन ऊर्जा-शक्ति को जानने की ओर संकेत है ;

इसी प्रकार मन्त्रों में उत्कृष्ट ज्ञान की बातें देखकर ही हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेद किसी कवि, मनीषी अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा के कहे हुए हैं ।

यह नहीं कि अन्न और ऊर्जा का नाम ही वेदों में हो, वरन् इनके विषय में रहस्यमयी जानकारी भी दी गई है । यह हम सब आगे चलकर समझाने का यत्न करेंगे ।

इस अध्याय में हमने यह बताने का यत्न किया है कि वेद परमात्मा का मनुष्य के लिए दिया हुआ ज्ञान है और इसमें सत्य विद्याओं का ही दर्शन है ।

## : २ :

# उपनिषदादि ग्रन्थ

मनुष्यकृत ग्रन्थ वेद समान विश्वास योग्य नहीं हैं । अतएव उनको तब ही स्वीकार किया जा सकता है जब वेद वेदानुकूल हों ।

जब एक बार हम यह समझ लें कि वेद ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं, तब उस कसौटी पर अन्य ग्रन्थों की परीक्षा की जा सकती है ।

परीक्षा करते समय प्रमाणों के विषय में यह माना गया है कि प्रमाण तीन प्रकार के हैं ।

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसंनिकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम् । (सां० १-८७)

अर्थात्—(बुद्धि और आत्मा) दोनों अथवा दोनों में से एक को पूर्व अज्ञात अर्थ का ज्ञान होना प्रमा कहलाता है। जो इस (प्रमा) को भली-भाँति सिद्ध करता है, वह प्रमाण तीन प्रकार का है।

इन तीन प्रकार के प्रमाणों को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष का अभिप्राय है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ (न्याय० १-१-४)

अर्थात्—इन्द्रियों के विषयों के साथ संयोग से उत्पन्न ज्ञान, जो शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सके, जो दोषरहित हो और निश्चय रूप हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय द्वारा भ्रमरहित और निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, भले ही वह शब्दों में प्रकट न किया जा सके।

दूसरे प्रकार के प्रमाण के विषय में कहा है—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ —सां० १-१००

अटल सम्बन्ध को प्रतिबन्ध कहते हैं। इसको देखकर बँधे हुए का ज्ञान अनुमान कहलाता है।

जब यह पता चले कि दो वस्तुओं, विचारों अथवा सिद्धान्तों का एक न टूटने वाला सम्बन्ध है, तब एक को देखकर दूसरे के वहाँ होने का ज्ञान अनुमान कहलाता है।

यह प्रमाण प्रायः सूक्ष्म अथवा लीन पदार्थों के विषय में प्रयोग किया जाता है। इनको प्रत्यक्ष करने में इन्द्रियाँ कार्य नहीं करती हैं। इसका एक विख्यात उदाहरण सांख्याचार्य देता है।

अचाक्षुषाणामनुमानेनसिद्धिर्धूमादिभिरिव वह्नेः ॥ —सां० १-६०

अर्थात्—अदृष्ट पदार्थों की अनुमान से सिद्धि होती है। जैसे धूमादि को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है।

अग्नि दिखायी न देती हो, परन्तु धुआँ दिखायी दे तो अग्नि का ज्ञान निश्चय से होता है।

शब्द प्रमाण का अभिप्राय है वेद प्रमाण।

यह सब यहाँ बताने से हमारा अभिप्राय यह है कि किसी बात अथवा

ग्रन्थ की प्रामाणिकता में ये तीन प्रमाण हैं। वेद तो हैं ही। वेद के अतिरिक्त भी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से किसी वस्तु के सत्य ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है।

हम यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् के एक कथन की परीक्षा करेंगे। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थान पर कहा है—

···चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो···

—बृ० उ० ३-४-१

अर्थ है—चाक्रायण ने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, मेरे लिए उसकी व्याख्या करो।

याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर यिया। इस पर पुनः प्रश्न हुआ। कुछ प्रश्नोत्तरों के उपरान्त याज्ञवल्क्य ने अन्तिम उत्तर इस प्रकार दिया—

···न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम॥ —बृ० उ० ३-४-२

अर्थ है—तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता को मनन नहीं कर सकते, विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते। तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर ही है। इससे भिन्न नाशवान् है। इसके उपरान्त चाक्रायण चुप हो गया।

अब हम बृहदारण्यक के इस कथन की, उक्त प्रमाणों के आधार पर परीक्षा करते हैं।

इस कथन का अभिप्राय है कि जो मनुष्य में देखता है, सुनता है, विचार करता है, जानता है, उसे जाना नहीं जा सकता। वही सबके भीतर एक आत्मा है।

यह कथन प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

यह इस प्रकार है कि वह जो एक मनुष्य में देखता, सुनता, मनन करता अथवा जानता है, वही सब में नहीं है। सब में देखने वाले, सुनने वाले, मनन करने वाले और ज्ञान प्राप्त करने वाले भिन्न-भिन्न हैं।

यदि देवदत्त और सोमदत्त दोनों में देखने इत्यादि वाला आत्मा एक ही होता तो जो कुछ देवदत्त देखता, वह सोमदत्त अथवा कोई भी अन्य मनुष्य देख लेता।

यदि देवदत्त देवदास का चलचित्र देख रहा है तो सोमदत्त घर पर अथवा किसी भी अन्य स्थान पर बैठा वह चलचित्र देख लेता।

यदि एक मनुष्य घर बैठा ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड पर ठाकुर ओंकारनाथ का संगीत सुन रहा है तो संसार भर के सब प्राणी उसे सुन लेते। क्योंकि, महर्षि याज्ञवल्क्य के कहे अनुसार वही आत्मा सबमें है।

अतः यह प्रत्यक्ष प्रमाण से अशुद्ध कथन है। अनुमान प्रमाण से भी यह अशुद्ध सिद्ध होगा। मान लीजिये कि देवदत्त बाईसिकल पर जाता-जाता मोटर गाड़ी से टकरा घायल हो हस्पताल में पहुँच जाता है। वहाँ उसका ऑपरेशन हो रहा है और आपरेशन की वेदना से वह कराह रहा है और सोमदत्त घर बैठा हुआ हलुवा खाता हुआ प्रसन्नता एवं सुख अनुभव कर रहा है। इसस यह सिद्ध होता है कि देवदत्त का आत्मा और सोमदत्त का आत्मा एक नहीं। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से भी याज्ञवल्क्य् का यह कथन अशुद्ध सिद्ध किया जा सकता है।

शब्द प्रमाण से भी यह अशुद्ध सिद्ध किया जा सकता है। हमने बताया है कि शब्द प्रमाण से अभिप्राय वेद प्रमाण है। इस कथन का विरोध वेद में इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥

—ऋ० १-१६४-२०,२१,२२

अर्थात्—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया=दो सुन्दर गतियों वाले परस्पर सम्बन्धित तथा सखा भाव रखते हुए एक समान। वृक्षं=काटे-छाँटे जाने वाली प्रकृति पर। परि षस्वजाते=सर्वतः आश्रित हैं। तयोः=उन दोनों में। अन्यः=एक। पिप्पलं स्वादु अत्ति=प्रकृति रूपी वृक्ष के पके फलों का स्वाद लेता है (सुख-दु.ख भोगता है)। अनश्नन्=न खाता हुआ। अन्यः=दूसरा (परमात्मा)। अभि चाकशीति=साक्षी रूप देखता है ॥२०॥

यत्रा=जहाँ। सुपर्णा=जीव कर्म करने वाला। अमृतस्य भागम्=अमृत पाने की। अनिमेषम्=निरन्तर। विदथा अभिस्वरन्ति=ज्ञान-विज्ञान का

चिन्तन पालन करता है। इनः विश्वस्य भुवनस्य=समस्त गृहों का स्वामी। गोपाः=रक्षक। मा धीरः=मुझ विद्वान को। पाकम्=जो ज्ञान से परिपक्व हो चुका है। आ विवेश=आकर प्रवेश करे ॥२१॥

सुपर्णाः=जीव। यस्मिन् वृक्षे मधु अदः=जिस वृक्ष के मीठे फल खाता है। निविशन्ते अधिविश्वे सुवते=जगत् में रहते सन्तान उत्पन्न करता है। इव आहुः तस्य=यह उनके विषय में कहा जाता है। अग्रे स्वादु पिप्पलं=पहले स्वादिष्ट फल खाये थे। तत् न उत् न शत् चः पितरम् न वेद=वे परमात्मा को नहीं जानते और नाश को प्राप्त होते हैं।

इन मन्त्रों का भावार्थ यह है कि विश्व में आत्मा और परमात्मा प्रकृति के आश्रय रहते हैं। एक प्रकृति का भोग करता है और परत्मामा साक्षी रूप देखता है। जो जीव परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करता है और भुवनों के स्वामी रक्षक परमात्मा के आश्रय रहता है, वह मोक्ष प्राप्ति की कामना करता है।

और जो इस संसार के स्वादों को लेता हुआ यहाँ सन्तान उत्पन्न करता है, वह उस परमात्मा और मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

हमारे कहने का निष्कर्ष यह है कि आत्म-तत्त्व दो हैं। एक तत्त्व पृथक्-पृथक् शरीरों में रहता हुआ भले-बुरे कर्म करता है। खाता-पीता, सुनता, सूँघता, मनन करता और ज्ञान प्राप्त करता है। वह आत्मा है। वह सबमें एक नहीं है। भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न है।

दूसरा तत्त्व सर्वान्तर एक है।

अतः उपनिषद् वाक्य ग़लत है।

इसी प्रकार किसी भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता का निर्णय किया जा सकता है। ग्रन्थ में कही बात को प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द प्रमाण से निश्चय किया जा सकता है।

इन तीनों अथवा इनमें से किसी एक प्रमाण से सिद्ध किया पदार्थ प्रमाणित माना जाता है। साँख्यदर्शन में यह कहा है—

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाऽऽधिक्यसिद्धिः ॥ —सां० १-८८

अर्थ है—इन प्रमाणों से जो कुछ सिद्ध हो जाये वह अन्तिम सिद्ध है। और अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं रहती।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि वेदार्थ की सत्यता की परीक्षा भी इसी प्रकार प्रमाण से की जा सकती है अर्थात् जैसे ऊपर बताया है प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण से। वेदों पर निरुक्त कहने वाले यास्क इस प्रकार कहते हैं—

अक्षरं न क्षरति । न क्षीयते वाऽक्षरं भवति । वाचोऽक्ष इति वा । अक्षो यानस्याञ्जनात् । तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यात् । इति ।

अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः । अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः । न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः । प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः ।

—यास्क निरुक्त १३-१२

अर्थात्—जो क्षरित क्षीण नहीं होता, वह ही वाक् (वेद वाणी) हो जाती है। अथवा वाक् (वेद वाणी) नाश नहीं होती। जैसे शकट के अरे अक्ष (धुरे) के आश्रय कार्य करते हैं। इसी प्रकार वाक् (वेद वाणी) अक्षरों के आश्रय कार्य करती है। अतः मन्त्रार्थ की चिन्ता की गयी है। अर्थ श्रुति के प्रमाण से, युक्ति से तथा प्रकरण अनुसार होने चाहियें।

यह स्पष्ट है कि यास्क समझता है कि वेद परस्पर विरोधी नहीं। अतः वेदार्थ में शब्द प्रमाण का अभिप्राय यह है कि वेद में किसी स्थान पर कही बात किसी दूसरे स्थान पर कहे के विरुद्ध नहीं हो सकती।

यास्क यह भी समझता है कि वेद का कहा तर्क से असिद्ध नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि वेद कथन सदा तर्क-संगत होता है।

तर्क के विषय में यह कहा है कि आधार-युक्त तर्क सदा सत्य होता है। जिस तर्क में किसी प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का आधार न हो, वह तर्क माननीय नहीं हो सकता। वेद सर्वदा तर्क-संगत बात ही कहता है।

साथ ही वेद के अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करने चाहियें। जिस विषय का सूक्त अथवा मन्त्र हो, उस विषय से हटकर उस मन्त्र का अर्थ यदि किया जायेगा तो वह अशुद्ध होगा।

यहाँ प्रकरण के विषय में दो शब्द कह देना उचित है। वेद मन्त्रों, सूक्तों (मन्त्र-समूहों) अथवा मन्त्रांशों पर देवता लिखे रहते हैं। ये देवता ही उस मन्त्र, मन्त्रांश सूक्त का प्रकरण (विषय) होते हैं। और उसका विचार रखकर ही मन्त्रार्थ होने चाहियें। अभिप्राय यह है कि मन्त्र अथवा सूक्त के देवता का अर्थ है मन्त्र अथवा सूक्त में वर्णित विषय। प्रायः एक सूक्त (मन्त्र समूह) का एक ही देवता अर्थात् विषय होता है। कभी एक ही सूक्त में मन्त्रों के भिन्न-भिन्न देवता होते हैं। इस पर भी उनका सूक्त में होना यह प्रकट करता है कि विषय भिन्न-भिन्न होने पर भी उनमें समीपता अथवा सम्बन्ध है।

देवता मन्त्रों का प्रकरण होता है और अर्थ प्रकरणानुसार होने चाहियें। यही यास्काचार्य का मत है। इससे यह स्पष्ट ही है कि वेद में प्रकरणानुसार ही वक्तव्य हैं।

हमने यह इस सन्दर्भ में बताया है कि वेदार्थ की सत्यता भी उसी प्रकार देखी जाती है जिस प्रकार किसी भी ग्रन्थ के सत्य-असत्य का निर्णय किया जाता है।

भारतीय विद्वानों का यह मत है कि वेद इस कसौटी पर सत्य सिद्ध होते हैं। अतः वेद स्वतः प्रमाण हैं।

जैसे किसी मनुष्य का किसी विषय में ज्ञान सदा सिद्ध हुआ हो तो फिर उस व्यक्ति को उस विषय का विशेषज्ञ मान, उस विषय में उसे प्रमाण समझा जाता है। वही बात वेदों की है। अन्तर इतना है कि जितने भी विषयों पर वेदों की परख की गयी है, इसे सत्य ही पाया गया है। जबकि किसी भी मनुष्य के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनुष्य किसी एक अथवा दो-तीन विषयों का विशेषज्ञ हो सकता है परन्तु सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अतएव वेद सर्वज्ञ परमात्मा का रचा ग्रन्थ माना जाता है। परमात्मा को कवि कहा जाता है। कवि का अर्थ है सर्वज्ञ।

उपनिषद ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थ इस कसौटी पर सदा और सब स्थान पर सत्य सिद्ध नहीं होते। इस कारण ये ग्रन्थ वहाँ तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक ये वेदानुकूल हों और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से इनकी बात सिद्ध की जा सके।

उपनिषदादि ग्रन्थों को 'परता प्रमाण' माना जाता है।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने का वेद स्वयं भी साक्षी है। यद्यपि हम इन प्रमाणों को प्रथम कोटि का प्रमाण नहीं मानते, परन्तु जब वेद की अन्य बातें सत्य सिद्ध होती हैं तो इसके अपने विषय में साक्षी को भी सत्य माना जा सकता है।

अथर्ववेद का एक मंत्र है—

**यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।**

—अथर्ववेद १०-७-२०

अर्थ हैं—यस्मात्=जिस (परमात्मा) से। ऋचः=ऋचायें। अप अतक्षन्=प्रकट हुईं। यस्मात्=जिससे। यजुः=यजुर्वेद। अप अकषन्=प्रकट हुआ। सामानि=मोक्ष विद्यायें (साम वेद)। यस्य=जिसके। लोमानि=लोम हैं। अथर्व अङ्गिरसः=अथर्व अंगों के रस समान हैं। मुखं तं=मुख के समान हैं। स्कम्भम् सः स्वित् एव कतमः ब्रूहि=वह धारण करने योग्य (परमात्मा) कौन है? तू ही कह।

अभिप्राय यह है कि परमात्मा जो मुख स्वरूप है अर्थात् ज्ञान कहने

वाला है, उससे ही ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद उत्पन्न हुए ।

इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद्यजस्तस्मादजायते ।।—यजु० ३१-७

अर्थात्—तस्मात्=उस । यज्ञात्=अति पूजनीय से । सर्वहुतः=सबसे ग्रहण किये जाने वाले से । ऋचः=ऋग्वेद । सामानि=साम वेद । जज्ञिरे= उत्पन्न हुए । तस्मात्=उसी से । छन्दासि=अथर्व वेद । जज्ञिरे=उत्पन्न हुआ । तस्मात्=उससे । यजुः=यजुर्वेद । अजायत्=उत्पन्न हुआ ।

इस वेद मन्त्र से यह प्रकट होता है कि वेद अपने परमात्मा रचित होने की घोषणा करता है । वह परमात्मा सबका हित करने वाला है ।

इतना कुछ कहने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि परमात्मा कोई तत्त्व है भी क्या ?

: ३ :

# परमात्मा है

ऐसा वेद में कहा है । वेद की प्रामाणिकता के विषय में हम पिछले अध्याय में कह आये हैं । अतः यदि वेद में परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है तो परमात्मा को मानना ही पड़ेगा ।

परन्तु ऋषियों ने इतने पर सन्तोष नहीं किया । वेद के अतिरिक्त प्रमाणों से भी परमात्मा के अस्तित्व की सिद्धि की है । हम दोनों प्रकार से परमात्मा के विषय में विचार करेंगे ।

वेद में कहा है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।। यजु० ४०-१

अर्थात्—ईशा=ईश्वर से । वास्यम्=आच्छादित है । इदम्=यह सब कुछ । सर्वम्=सब । यत् किम् च=और जो कुछ । जगत्याम्=चलायमान संसार में । जगत्=चल रहा है । तेन त्येक्तेन=इस कारण त्यागपूर्वक । भुञ्जीथा=भोग कर । मा=मत । गृधः=लालच कर । कस्य स्वित्=किसका है वह । धनम्=मलकीयत ।

अभिप्राय यह कि जो कुछ इस जगत् में स्थावर एवं चलायमान दिखायी देता है, वह आच्छादित है परमात्मा से। इस कारण मत लालच कर। त्यागपूर्वक इसका भोग कर। यह किसी की भी मलकीयत नहीं है।

पूर्ण जगत् के प्राकृतिक पदार्थों की रचना परमात्मा ने की है। यह सब मनुष्य मात्र के लिए है। अतः किसी को इस पर मलकीयत जमा कर नहीं बैठ जाना चाहिये। त्याग की भावना से ही इसका भोग करना चाहिये।

परमात्मा के स्वरूप के विषय में भी कहा है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ्शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः ॥८॥ —यजु० ४०-८

अर्थात्—सः=वह (परमात्मा)। परि अगात्=सर्वत्र व्यापक है। शुक्रम=शीघ्रकारी सर्वशक्तिमान्। अकायम्=शरीर रहित। अव्रणम्=विकार रहित। अस्नाविरम्=स्नायु बन्धन से रहित। शुद्धम्=अविद्यादि दोषों से रहित। अपापविद्धम्=वह जो पाप से बद्ध नहीं होता। कविः=महान ज्ञानवान्। मनीषी=सबके मन को जानने वाला। परिभूः=दुष्टों को दूर करने वाला। स्वयम्भूः=अनादि। शाश्वतीभ्यः=सनातन अनादि। समाभ्यः=सबके लिए समान भाव में। यथातथ्यतः=यथार्थता से। अर्थान्=सब पदार्थों का। व्यदधात्=अच्छी प्रकार से उपदेश करता है।

इन मन्त्रों को यहाँ देने से हमारा अभिप्राय यह बताना है कि वेद आस्तिकवाद का ग्रन्थ है। यह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सब जगत् के रचने वाले तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

वेद प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह बताया है। वेद में परमात्मा के अस्तित्व को माना है। इससे परमात्मा को स्वीकार करने में बहुत बल मिलता है। वेद की प्रामाणिकता का आधार इसके ईश्वरकृत होना नहीं। यह तो अपौरुषेय माना जाता है। परमात्मा के साथ यह भी अनादि है।

परन्तु वेद की प्रामाणिकता इस कारण नहीं कि यह परमात्मा द्वारा कहा गया है। इसकी प्रामाणिकता है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध होना। जो कुछ भी इसमें कहा है, वह इन प्रमाणों से सिद्ध ही है।

ऐसा करने के उपरान्त वेद में परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना एक प्रमाण है। परन्तु यदि वेद प्रत्यक्ष और अनुमान से सत्य सिद्ध ग्रन्थ है तो वेद में कहा गया परमात्मा भी तो प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध होना चाहिये।

यह दर्शन शास्त्रों ने सिद्ध किया है।

ब्रह्मसूत्रों में कहा है—

जन्माद्यस्य यत: ॥ —ब्र० सू० १-१-२

अर्थात्—जन्मादि=जन्म, पालन और प्रलय। अस्य=इस जगत् का। यत:=जिससे होता है। (वह ब्रह्म है)।

दर्शनाचार्य ने युक्ति की है कि जिससे यह दृश्यमान जगत् बना है, कार्य कर रहा है और प्रलय के समय विनष्ट होता है, वह परमात्मा है।

नास्तिक, जो परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानता, कहता है कि यह प्रकृति के नियम से बना है परन्तु प्रकृति तो बिना किसी चेतन के चलाये चलती नहीं।

दर्शनाचार्य इसमें इस प्रकार युक्ति करता है—

व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्षत्वात् ॥ —ब्र० सू०—२-२-४

अर्थात्—व्यतिरेक अनवस्थिते:=उलट धर्म का न अवस्थित होने में। अनपेक्षत्वात्=बिना (किसी चेतन के) अपेक्षा के।

अभिप्राय यह है कि प्रकृति का कोई भी अंश जिस अवस्था में है उसी अवस्था में रहता है बिना किसी (चेतन) के प्रभाव के।

एक गेंद खेल के मैदान में रखा हो तो वह वहाँ शताब्दियों तक पड़ा रहेगा और हिलेगा नहीं, जब तक कोई शक्तिवान् उसको ठोकर मार कर नहीं हिलाता।

यह सिद्धान्त तो आजकल के वैज्ञानिक भी मानते हैं। एक प्रख्यात् वैज्ञानिक न्यूटन ने गति के नियमों में पहली ही बात यह लिखी है—

Every particle of matter continues in a state of rest or motion with constant speed in a straight line unless compelled by a force to change that state.

अर्थात्—प्राकृति का कोई भी कण अचल स्थिति में पड़ा रहता है अथवा एक ही गति से सीधी रेखा में चलता रहता है जब तक वह किसी विपरीत शक्ति से अवस्था बदलने पर विवश नहीं किया जाता।

नास्तिक का कहना कि प्रकृति अपने नियम से रूप बदलती तथा अवस्था बदलती है, प्रमाण से सिद्ध नहीं।

जगत्, सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि सब गति से चल रहे हैं। क्या यह सदा से ऐसे हैं? वैज्ञानिक ऐसा नहीं मानते। यह सृष्टि बनी है। इस जगत् में हम नित्य नक्षत्र टूटते देखते हैं। जो टूटा है वह कभी बना भी था। इस

युक्ति से सृष्टि-रचना का अनुमान होता है और इससे यह पता चलता है कि इस रचना को करने वाला कोई महान् शक्तिशाली है।

ऊपर ब्रह्म सूत्रों को कहने वाला कहता है कि वह ब्रह्म है।

महर्षि स्वामी दयानन्द ईश्वर की सिद्धि में इस प्रकार सत्यार्थ प्रकाश में कहते हैं—

प्रश्नकर्त्ता पूछता है—आप ईश्वर-ईश्वर कहते हैं, परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

अब विचारणीय यह होना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचादि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेषादि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान-प्राप्ति में गुणों का प्रत्यक्ष होता है। गुणी का तो अनुमान ही होता है। इसी प्रकार रचनादि गुणों को देखकर रचना करने वाले का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जायेगा।

हम मधुर ध्वनि सुनते हैं। कान को ध्वनि का ज्ञान होता है, परन्तु मन को तथा आत्मा को वाद्य यन्त्र (शहनाई इत्यादि) का ज्ञान होता है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि चलते हैं। चलने को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। इससे उनको चलाने वाले का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही कह सकते हैं।

: ४ :

# परमात्मा ने वेद कब और कैसे प्रकट किये ?

यदि यह स्वीकार करें कि वेद नित्य (अनादि) हैं और इनको प्रकट परमात्मा ने किया है तो इसके प्रकट होने का काल ईश्वरीय-ज्ञान के ग्रन्थ वेद में से ही स्वीकार करना पड़ेगा।

वैसे युक्ति तो यही कह सकती है कि जिस समय जहाँ वेदों की अत्यधिक आवश्यकता रही होगी, उसी समय में वे वहाँ प्रकट हुए होंगे।

वेद ज्ञान इस पृथिवी पर मनुष्य के लिए ही है। मनुष्य से इतर प्राणी

इसको न तो समझ सकते हैं और न ही वे इससे कोई लाभ उठा सकते हैं। अतः वेद मनुष्य को तब ही मिले होंगे जब मनुष्य इस सृष्टि पर उत्पन्न हुआ था। मनुष्य इस सृष्टि पर कब हुआ, यही जानने को रह जाता है।

विकासवाद को सत्य सिद्धान्त मानने वाले तो यह मानते हैं कि आरम्भ में एक-कोषीय जन्तु (Unicellular animal) ही बना था और लाखों-करोड़ों वर्षों में उस एक-कोषीय जन्तु से वर्तमान युग के करोड़ों जातियों के जन्तु बने हैं। वे यह भी मानते हैं कि उस विकास की शृंखला में मनुष्य सबसे उन्नत और अन्तिम प्राणी है। हमने यह बताया है कि विकासवाद एक मिथ्या सिद्धान्त है। विकासवाद को यदि सत्य मानें तो भी यह मानना पड़ेगा कि वेद कहे जाने के काल में मनुष्य आज से अवनत अवस्था में था। मनुष्य की अन्य प्राणियों से श्रेष्ठता इसकी बुद्धि की है और वेद एक महान् विद्वान और ज्ञानवान् व्यक्ति के कहे ग्रन्थ मानने होंगे। इसमें वर्तमान युग के ज्ञात सिद्धान्तों से अधिक श्रेष्ठ सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है।

हमने एक मन्त्र दिया है कि अन्न और ऊर्जा पृथिवी पर सूर्य से प्राप्त हुई है, हो रही है और होती रहेगी। इन दोनों का स्रोत सूर्य के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। इससे अधिक इस विषय में वर्तमान विज्ञान जान नहीं सका। एक अन्य मन्त्र लीजिये—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन् त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥

—ऋ० १-१६३-१

सूक्त (१-१६३) का देवता (विषय) है 'अश्वोऽग्निर्देवता।' अग्नि अश्व। अश्व सृष्टि रचना करने वाली शक्ति है। अश्वोऽग्नि है वह अग्नि जो रचना कार्य करने वाली है। अतः मन्त्रों का अर्थ इसी विषय पर होना चाहिये।

मन्त्रार्थ हैं—श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू=बाज़ के पंखों तथा हरिण की बाहों की भाँति। अर्वन्=तीव्र गति से चलने वाला (परमात्मा का तेज)। उद्यन् समुद्रात्=समुद्र (अन्तरिक्ष) से ऊपर उठता हुआ। यत् अक्रन्दः= जिसने घोर शब्द किया। प्रथमम् जायमान=पहले उत्पन्न हुआ। उत वा पुरीषात्=अथवा सब कामना पूर्ण करने वाला। ते महि जातं=वह महत् उत्पन्न हुआ।

इस मंत्र में सृष्टि-रचना के आरम्भ का वर्णन है। अश्व को हमने रचना आरम्भ करने वाला कहा है। यह इस कारण कि अन्य विद्वानों ने भी इसे इसी

प्रकार लिया है। उदाहरण के रूप में बृहदारण्यक उपनिषद् में सृष्टि-रचना के प्रसंग में यह कहा है—

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। —बृ० उ० १-१-१

अर्थात्—उषा, (सृष्टि आरम्भ) के यज्ञ के अश्व का शिर (प्रथम चरण) है। यहाँ सृष्टि-रचना के उषा अर्थात् आरम्भ के काल का वर्णन है और कहा है कि रचना-रूपी यज्ञ का अश्व प्रथम पग है।

इसी कारण अश्वोऽग्नि (देवता) से यह अभिप्राय है कि सृष्टि-रचना का प्रसंग है। अर्वन्—तेजस्वी, तीव्र गामी, घोर शब्द करने वाला है।

इस सूक्त के अगले मन्त्रों को पढ़ने से उक्त अर्थ ही ठीक प्रतीत होंगे। त्रित का अर्थ है तीन का न टूटने वाला संयोग। यह 'सत्त्व रजस् तमसां साम्यावस्था प्रकृति' का द्योतक है।[1]

इस प्रकार के मन्त्रों को पढ़ और समझकर यह कहना ही पड़ेगा कि या तो यह मानो कि वैदिक काल में मनुष्य आजकल से भी उत्कृष्ट ज्ञान रखता था अथवा यह मानो कि वेद ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं।

भारतीय परम्परा तो नीचे के वेद मन्त्रों से स्पष्ट होती है—

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥१॥
पुमाँ एनं तनुत उत् कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥
कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥
—ऋ० १०-१३०-१, २, ३

इस सूक्त का देवता है 'भाव वृत्तम्'। इसका अर्थ है भाव (रचना होने) का वृत्तान्त।

अर्थ हैं—यः=जो। यज्ञोः=यज्ञ। विश्वतः=सब ओर से। तन्तुभिः=तन्तुओं द्वारा। ततः=विस्तृत हुआ। एक शतं=एक सौ एक। देव=देव वर्ष। कर्मेभिः=कर्म द्वारा। आयतः=विस्तृत हुआ। इमे=यह सब। वयन्ति=बुनते हैं। पितरः=पितर अर्थात् प्रजापति (मनु)। यः=जो। आययुः=बनाया। आसते=विद्यमान है। तत्=विस्तृत। प्र वयाप=(प्र-व्य-अप) वय=ऊपर का और नीचे को बुना॥ १॥

पुमान्=परम पुरुष। एनम्=इस (संसार रूपी यज्ञ) को। तनुत=

१. देखें लेखक का साँख्यदर्शन सूत्र १-६१ पर भाष्य।

विस्तार करता है। उत् कृणत्ति=समाप्त करता है। पुमान्=परम पुरुष। वि तत्ने=विस्तृत करता है। अधिनाके=आकाश में। अस्मिन्=इसमें। इमे=वे। मयूखा=किरणें। उपसेदुः=उपस्थित होते हैं। उ-सदः=स्थान पर। तसराणि सामानि चक्र=तिरछी गति वाले छन्द बनाये। ओतवे=बुनने के लिये॥ २॥

का=क्या। आसीत्=थी। प्रमा=परिमाण वाली। प्रतिमा=परिमाण मापने का साधन। किम्=क्या था। निदानम्=कारण और फल। आज्यम् किम् आसीत्=उस यज्ञ में सामग्री क्या थी। परिधिः आसीत्=रचना यज्ञ कहाँ तक फैला हुआ था। छन्दः किम् आसीत्=छन्द क्या था। प्र उ गम् किं उक्थं=क्या कहा गया था (उन छन्दों में)। यत्=जब। विश्वे देवाः=समस्त देव गण। देवम् अयजन्त=परमात्मा का भजन कर अर्थात् सहायक हो रहे थे॥३॥

इन मन्त्रों का भावार्थ यह है—

जब पूर्व के सूक्त (१०-१२९) में कहे अनुसार सृष्टि रचना आरम्भ हुई तो एक सौ एक देव वर्ष तक प्रकृति के परमाणुओं का ताना-बाना होता रहा और तब पितर (परमात्मा) ने पंच महाभूतों से इस जगत् के विविध पदार्थ ऐसे बुने जैसे ताने-बाने से कपड़ा बुना जाता है। इस सबको करने वाला परमात्मा है। बहुत ही विस्तृत क्षेत्र आकाश में यह जगत् बन गया और बनने पर जो देवता बने, वे परमात्मा के यज्ञ में सहायता करने लगे।

कैसे ? यह आगे कहा है—

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥
चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥
—ऋ० १०-१३०-४,५,६

अर्थात्—अग्नेः=अग्नि। गायत्री=गायत्री छन्द। अभवत्=हुई। सयुग्वा=सहयोगी। उष्णिहया=उष्णिक छन्द के साथ। सविता=सूर्य। सं बभूव=भली प्रकार संयुक्त हो गया। अनुष्टुभा=छन्द से। सोम=स्तुतियों से। महस्वान्=महान् तेजस्वी हुआ। बृहस्पती=बृहस्पति की। बृहती=बृहति छन्द। वाचम्=वाणी को। आवत्=प्राप्त हुआ।

विराट्=विराट् छन्द। मित्रा वरुणयोः=मित्र और वरुण दोनों का। अभि श्री=आश्रित हुआ अर्थात् इन देवताओं को मिला। इन्द्रस्य=इन्द्र का। त्रिष्टुप=त्रिष्टुप छन्द। इह=यहाँ पर। भागः=अंश है। अह्नः=दिन का। विश्वान् देवान्=सब देवताओं को। जगति=जगति छन्द। आविवेश=चारों ओर से प्राप्त हुआ। तेन=उससे। चाक्लृप्र=सामर्थ्यवान् हुआ। ऋषयो=ऋषिगण। मनुष्याः=मनुष्य।

चाक्लृप्रे=सामर्थ्यवान् अर्थात् ज्ञानवान् हुए। तेन्=उससे। ऋषयः मनुष्यः=ऋषि और मनुष्य। यज्ञे=यज्ञ (रचना) में। जाते=उत्पन्न होने पर। पितरः=आदि पुरुष। नः=हमारे। पुराणे=प्रथम में। पश्यन्=देखता हुआ। मन्ये=मानता हूँ। मनसा=मन से। चक्षसा=देखने। तान्=उनको। य=जो। इमं=इसको। यज्ञम्=यज्ञ को। अयजन्त=सम्पन्न करते थे। पूर्वे=आरम्भ होने वाले।

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि पूर्व (ऋ० १०-१३०-३) में जो कहा है कि देवता (वे पदार्थ जो सृष्टि रचना में बने) परमात्मा के यज्ञ में सहायता देने लगे। अब बताया जा रहा है कि वे क्या सहायता दे रहे हैं।

अग्निः का सहयोग गायत्री छन्द उच्चारण में होने लगा। उष्णिहा छन्द सूर्य के आश्रित हो गया। अनुष्टुप छन्द सोम से महान तेजस्वी हुआ। बृहती छन्द बृहस्पति से संयुक्त हो गया और वाणी को प्राप्त हुआ। विराट छन्द मित्र और वरुण के आश्रित हो गया। इन्द्र दिन के समय त्रिष्टुप छन्द का अंश हो गया। सब देवताओं के आश्रय विराट छन्द हो गये। इस प्रकार छन्द से संयुक्त हो सामर्थ्यवान हुए, दोनों ऋषि और मनुष्य भी।

(मनुष्य और ऋषि) सामर्थ्यवान और ज्ञानवान होकर परमात्मा के यज्ञ में सहायक होने लगे और हमारे पूर्वज जो सृष्टि के आरम्भ में हुए, वे भी यज्ञ को सम्पन्न करने लगे। अर्थात् उन छन्दों में कहे ज्ञान के अनुसार व्यवहार करने लगे।

इस पूर्ण वक्तव्य में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक यह कि जो ये सात छन्द हैं वे वेदों के मुख्य छन्द हैं।

दूसरी बात यह कि ये छन्द देवताओं के आश्रित हुए हैं। उनके कहने वाले देवता नहीं। कहने वाला तो परमात्मा ही था। देवता मात्र आश्रय देने वाले थे।

तरंगों के रूप में आते हुए छन्दों का भावार्थ ऋषि मन में समझे। फिर उसे भाषा में कहने लगे जो मनुष्यों की भाषा हो गयी थी।

जैसे मनुष्य में आत्मा और शरीर है, आत्मा शरीर के द्वारा ही अपने गुण-दोष बताता (प्रकट करता) है। इसी प्रकार जगत् परमात्मा का शरीर हो जाता है और इस जगत् के द्वारा ही परमात्मा अपने गुणों को प्रकट करता है।

यह प्रक्रिया वेद ने बतायी है कि वेदों का आविर्भाव कैसे हुआ और कहाँ हुआ। कैसे और कब हुआ, इस विषय में भी कहा है।

यह सृष्टि के आदि में जब मनुष्य उत्पन्न हो गये तब ही ऋषियों ने मनुष्य को बताया।

सृष्टि-रचना और लय एक दूसरे के उपरान्त चलते रहते हैं। वैसे ही जैसे दिन और रात एक-दूसरे के उपरान्त अनादि काल से चले आ रहे हैं।

जब जहाँ रचना होती है वहाँ ब्रह्म-दिन माना जाता है और जब जहाँ प्रलय होती है तो उसे ब्रह्म-रात्रि कहते हैं। खगोल शास्त्रियों का यह कहना है कि एक ब्रह्म-दिन और रात्रि ८,६४,००,००,००० सौर वर्ष की होती है। ४,३२,००,००,००० वर्ष का दिन और इतने ही वर्ष की रात्रि। जब दिन आरम्भ होता है तो परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होती है और (सांख्यदर्शन में वर्णित) परिणाम बनने लगते हैं।

यह कहा है कि सम्वत्सर (एक देव वर्ष) भर एक ब्रह्माण्ड (galaxy) में परिवर्तन होते रहे और इस काल के उपरान्त ब्रह्माण्ड फटा और द्यू (सूर्यादि) पृथिवी, नक्षत्रादि पृथक्-पृथक् हो गये और बीच में अन्तरिक्ष हो गया।

यह घटना ब्रह्म-दिन के आरम्भ से लगभग चार करोड़, बत्तीस लाख वर्ष उपरान्त हुई। तब पृथिव्यादि जो बने, अवश्य बहुत गर्म रहे होंगे और उन्हें ठण्डा होने में पर्याप्त काल व्यतीत हुआ होगा।

ब्रह्म-दिन का विभाजन दो प्रकार से किया जाता है। एक तो रचना क्रम में जब-जब कोई विशेष परिवर्तन हुआ तो कहा गया है कि ब्रह्म (सृष्टि-रचयिता) का नया रूप प्रकट हो गया। इस विभाजन को मनु अथवा काल-मन्वन्तर कहते हैं। ब्रह्म दिन के चौदह मन्वन्तर माने गये हैं। जिसमें से छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं और सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है।

सुगम गणना के विचार से पूर्ण ब्रह्म-दिन को १००० चतुर्युगियों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार एक मन्वन्तर में ७१.४२८ चतुर्युगियाँ होती हैं। एक चतुर्युगी ४३,२०,००० वर्ष की होती हैं। इस प्रकार छः व्यतीत मन्वन्तरों का काल हुआ ६ × ४३,२०,००० × ७१.४२८ = १,८५,१४,१३,७६० सौर वर्ष।

सातवें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियाँ व्यतीत हो चुकी हैं और अट्ठाईसवीं चतुर्युगी चल रही है। अट्ठाईसवीं चतुर्युगी का सत्युग, द्वापर युग, तथा त्रेता युग व्यतीत होकर कलियुग के ५०७७ वर्ष जा चुके हैं।

यह सब गणना इस प्रकार हो गयी—

| | | |
|---|---|---|
| ६ मन्वन्तरों का व्यतीत काल | १,८५,१४,१३,७६० | मानव वर्ष |
| वैवस्वत मनु की २७ चतुर्युगियाँ | ११,६६,४०,००० | ,, ,, |
| वैवस्वत मनु की २८ वीं चतुर्युगी का सत्युग | १७,२८,००० | ,, ,, |
| ,, ,, ,, त्रेतायुग | १२,९६,००० | ,, ,, |
| ,, ,, ,, द्वापर युग | ८,६४,००० | ,, ,, |
| ,, ,, कलियुग का व्यतीत काल | ५,०७७ | ,, ,, |
| कुल व्यतीत काल | १,९७,१९,४६,८३७ | ,, ,, |

यह माना जाता है कि वैवस्वत मनु में यहाँ पहले वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। पीछे कृमि, कीट, पतंग उत्पन्न हुए। फिर पशु, पक्षी बने और वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में मनुष्य उत्पन्न हुए। यह आज से लगभग ३९ लाख वर्ष पहले हुआ था।

हमारा मत है कि मानव सृष्टि होते ही वेद, जो छन्द रूप में प्रसारित पहले से ही हो रहे थे, ऋषियों ने सुने और मानवी भाषा में कहे।

वर्तमान विज्ञान तो यह मानता है कि मनुष्य इसे पृथिवी पर २२ हजार वर्ष हुए उत्पन्न हुआ था।

भारतीय शास्त्रों का मत है कि वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में (लगभग उनतालीस लाख वर्ष पूर्व) वेद ऋषियों ने मन में सुने और वर्तमान वैदिक भाषा में कहे।

: ५ :

## वेदों का स्वरूप

यह हम बता चुके हैं कि वेद परमात्मा की प्रेरणा से अग्नि, सूर्यादि देवताओं द्वारा तरंगों के रूप में छन्दों में प्रसारित हुए। वे ऋषियों ने सुने और

उन्होंने मानव सृष्टि के आदि में वेद वाणी में कहे।

इस वाणी का वर्णन वेद में एक अन्य स्थान पर भी है। यहाँ अधिक व्याख्या से है। वेद मन्त्र हैं—

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥

—ऋ० ८-१००-१०,११

ये वेद मन्त्र राष्ट्रभाषा अर्थात् जनता की भाषा के विषय में हैं। वेद इस बात को मानता है कि मनुष्य को जब तक कोई शिक्षा देने वाला न हो तब तक यह कुछ भी सीख नहीं सकता। अतः जब आरम्भ में अमैथुनीय मनुष्य सृष्टि हुई जो वाणी सीखने की बुद्धि और सामर्थ्य रखती थी तो परमात्मा ने उसे वाणी सिखाने का प्रबन्ध भी किया। आठवें मण्डल के १०० वें सूक्त का देवता इन्द्र है। अर्थात् परमात्मा ने वाणी सिखाने का प्रबन्ध कैसे किया, यह यहाँ वर्णन किया गया है।

मन्त्र के अर्थ हैं—यत् वाक् वदन्ति अविचेतनानि=जब अज्ञात अर्थों वाली वाणी। मन्द्रा राष्ट्री देवानाम् निषसाद वदन्ति=आनन्दित करती हुई दिव्य शक्तियों में बैठ जाती है तब वह जन भाषा का रूप बोलती है। चतस्रः ऊर्जं दुदुहे=तब वह शक्ति रूप चारों दिशाओं में दुही जाती है। अर्थात् लोग उसका दोहन करते हैं। पयांसि=दूध समान। क्व स्वित् अस्याः परमं जगाम=कहाँ तक इस (वाणी) का अन्त गया है॥१०॥

देवाः देवीं वाचम्—विद्वान् लोगों ने इस दिव्य वाणी को। अजनयन्त= प्रकट किया। विश्वरूपाः=इस समस्त रूपों वाली को। पशवः वदन्ति=जन साधारण बोलते हैं। सा नः मन्द्रा=वह वाणी हमें (मनुष्यों को) प्रसन्नता प्रदान करती है। इषं ऊर्जं दुहाना=वह वाणी शक्ति देने वाली टपकती है। धेनुः=गाय के चार स्तनों (चार वेदों) से। अस्मान् सुष्टुत अप एत=हमको स्तुति की हुई प्राप्त हो॥११॥

इसका अभिप्राय यह है कि जन भाषा मनुष्य को पहले प्राप्त हुई और वेद-ज्ञान पीछे ऋषियों ने छन्दों में उच्चारण होता सुना और फिर मनुष्यों को इस राष्ट्रीय भाषा में बताया।

दोनों में कितने समय का अन्तर रहा होगा, वर्णन नहीं किया गया। परन्तु यह लाखों वर्ष का नहीं होगा। सम्भवतः अमैथुनीय मानवी सृष्टि को पहले

राष्ट्रीय भाषा मिली और पीछे तुरन्त ही वेद वाणी मिली।

एक बात यहाँ स्पष्ट है कि दोनों (राष्ट्रीय वाक् और वेद ज्ञान) पहले देवताओं के द्वारा ही प्रसारित हुए। पीछे ऋषियों द्वारा मनुष्यों को मिले।

यहाँ कुछ थोड़ा-सा इस राष्ट्रीय भाषा और वेद भाषा के विषय में बता देना ठीक होगा। यह भाषा पदों में आयी। पद अक्षर समूह ही होते हैं। परन्तु अक्षर-अक्षर कर नहीं आयी। पद-पद कर आयी।

इस विषय में भी एक वेद मन्त्र है—

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणी:॥

ऋ० १-१६४-२४

अर्थात्—गायत्रेण=व्योम की प्राणादि शक्तियों द्वारा। प्रति मिमीते=बार-बार कहा जाता है। अर्कम्=मन्त्र को। अर्केण=वाणी द्वारा। त्रैष्टुभेन साम वाकम्=त्रैष्टुभ छन्द में साम की वाणी को। वाकेन वाकम्=वाणी से वेद को। द्विपदा चतुष्पदा=दो पदों में चार पदों में। मिमते सप्त वाणी:=सातों छन्द कहे जाते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि अक्षरेण=न नाश होने वाले पदों में सातों छन्द कहे गये हैं।

मन्त्रों में हम देखेंगे कि एक पद, द्विपद, चतुष्पद हैं अर्थात् बहुत बड़े-बड़े पद नहीं हैं, जिनमें बड़े-बड़े समास हों और भाषा की विषमता का प्रदर्शन हो।

हमारा यह कहना है कि वेद भाषा अति सरल है। इसमें वह क्लिष्टता नहीं जो मध्यकालीन प्राकृत भाषा में पाई जाती है।

उदाहरण के रूप में न्याय दर्शन के एक सूत्र को देखिये।

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता न्या० द० १-२-४

यह एक पद है।

अब शंकराचार्य को लीजिये। ब्रह्मसूत्र भाष्य का एक पद है—

···वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च···

(वे० द० शंकर भाष्य १-३-३८ में से)

यह वैदिक शैली नहीं। प्राय: मन्त्र द्विपद और चतुष्पद में हैं। एक पदी वाक्य तो बहुत हैं।

अतः वेदार्थ समझना इतना कठिन नहीं जितना कि दर्शनशास्त्र अथवा शंकर भाष्य को समझना है।

परन्तु वेदों में भी शब्दार्थ तो समझना होगा और विषय का भी निरीक्षण

करना होगा। यह तो किसी भी ग्रन्थ को पढ़ने के लिए ग्रावश्यक है। शब्दों के ग्रर्थ ग्रौर फिर जहाँ शब्द ग्रनेकार्थवाची हों वहाँ वर्णित विषय के ग्रनुसार शब्दार्थ करने ग्रावश्यक होते हैं।

ग्राज बहुप्रचलित ग्रांग्ल भाषा में भी यही है। उदाहरण के रूप में ग्रांग्ल भाषा का एक शब्द क्रिस्प (crisp) लें। जब तो वस्तु की ग्रवस्था का कथन हो तो इसके ग्रर्थ होंगे—मुरमुरा, भुरभुरा, खस्ता। जहाँ वाणी के सम्बन्ध में यह शब्द ग्रायेगा वहाँ इसके ग्रर्थ होंगे—सुस्पष्ट, विशद्। जहाँ मनुष्य की ग्रथवा किसी जन्तु की गति के साथ सम्बन्ध ग्रायेगा वहाँ इसका ग्रर्थ होगा फुर्तीला, स्फूर्तिदायक। इसका प्रयोग बालों के सम्बन्ध में ग्राये तो ग्रर्थ होंगे—घुँघराले, कुँचित, लहरदार।

यही बात वेद-भाषा की है।

ग्रभी तक हमने पुस्तक के प्रथम खण्ड में वेद विषयक सामान्य बातों का उल्लेख किया है। ग्रब द्वितीय खण्ड में वेदों को समझने में ग्रौर ग्रधिक क्या जानना ग्रावश्यक है, यह बतायेंगे।

# खण्ड दो

## : १ :

## वेद भाषा

आदि काल में वेदार्थ समझने-समझाने में कुछ विशेष असुविधा नहीं रही होगी। क्योंकि राष्ट्रीय भाषा और वेद भाषा एक ही थी। साथ ही जिन ऋषियों ने वेदों के प्रसारित छन्द तरंगों को ग्रहण कर, समझकर, जन साधारण को बताया, वे स्वयं उपस्थित थे। यदि किसी को संशय होता तो वे उसका निवारण कर सकते थे।

परन्तु काल व्यतीत होने के साथ बोली जाने वाली भाषा और वेद भाषा में अन्तर होता गया। बोली जाने वाली भाषा, काल और स्थान में भेद होने से सदा बिगड़ती है, परन्तु वेद की भाषा उच्चारण के उपरान्त स्थिर हो गई थी।

यहाँ हम यह भी बता देना चाहते हैं कि वेद भाषा केवल बोलने की ही थी, लिपि नहीं थी। लिपि तो बहुत पीछे, जब मनुष्यों का स्मृति-यंत्र दुर्बल पड़ने लगा तो आविष्कार की गयी।

लिपि मनुष्यकृत होने से एकदम ही श्रेष्ठ नहीं बन गयी। पहले कई अनुभवों के उपरान्त ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया गया। इस ब्राह्मी लिपि से अनेकानेक लिपियाँ बनीं। कुछ ब्राह्मी लिपि से भी घटिया बनीं और कुछ-एक उससे उन्नत हुईं।

उन्नत लिपियों में सर्वश्रेष्ठ लिपि देवनागरी है। यह श्रेय भी भारतीय विद्वानों को ही प्राप्त हुआ है कि उन्होंने एक अति श्रेष्ठ लिपि का आविष्कार किया है। आज संसार में जितनी भी लिपियाँ हैं, उनमें देवनागरी सर्वश्रेष्ठ है।

लिपि का प्रयोजन यह होता है कि जो कुछ बोला जाये उसे शब्दों के स्थायी रूप में जाना जा सके। काल व्यतीत होने के साथ-साथ बोले जाने वाले वाक्य और पदों में विकृति आने लगी तो विद्वानों ने भाषा को स्थिर रखने के लिये बोले जाने वाले वाक्यों के स्वरूप लिपि का आविष्कार किया।

विद्वानों ने यह किया कि वाक्य और पदों की ध्वनि का विश्लेषण कर

उसके सूक्ष्म टुकड़े कर दिये। प्रत्येक टुकड़ें का चिह्न नियत कर दिया। उदाहरण के रूप में 'वामन' शब्द लिया जा सकता है। उसके टुकड़े किये गये वा, म, न। अब 'व' के भी दो टुकड़े किये गये और देखा गया कि 'म' और 'न' के भी दो-दो टुकड़े हो सकते हैं। यथा व्+आ; म्+अ; न्+अ।

इस प्रकार विश्लेषण करने पर विद्वानों को समझ आया कि वास्तव में वहुत ही कम ध्वनियाँ हैं जिनके चिह्नों की आवश्यकता है।

सब ध्वनियों को दो श्रेणियों में बाँटा गया। एक श्रेणी को स्वर (vowels) कहा गया और दूसरी को व्यंजन (consonants)। मिल-मिलाकर ७ स्वर और ३५ व्यंजनों से बोली जाने वाली पूर्ण भाषा को लपेट में लिया जा सकता है। इन ४२ ध्वनियों के अतिरिक्त तीन-चार ध्वनियाँ वेद की विशेष हैं। वे आजकल की भाषा में प्रयुक्त नहीं होतीं।

इस प्रकार केवल ४२ चिह्नों से वेद की पूर्ण भाषा को लिखने का प्रबंध कर दिया गया।

भारतीयों ने एक बात का विशेष यत्न किया है कि एक ध्वनि के लिये एक ही चिह्न हो और एक चिह्न से एक ही ध्वनि प्रकट हो।

परन्तु हम यहाँ लिपि की बात नहीं कह रहे। हम ध्वनि की बात कह रहे हैं।

ध्वनि और अर्थ के विषय में एक प्रसिद्ध निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार लिखा है। यास्क निरुक्ताचार्य पहले पूर्व पक्ष उपस्थित करता है—

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः ॥ १ ॥ (या० नि० १-१)

अर्थात्—वचन नित्य है जब तक इन्द्रिय से सम्बन्धित है। अर्थात् यह अनित्य है। ऐसा औदुम्बरायण का मत है।

पूर्व पक्ष वाले का कहना है कि वेदों के वाक्य, पदादि मुख से बोले जाते हैं। अतएव अनित्य इन्द्रिय से बोले जाने वाला वाक्य कैसे नित्य हो सकता है?

इसका उत्तर यास्काचार्य इस प्रकार देता है—

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। (या० नि० १-२)

अर्थात्—(शब्द) व्याप्ति वाला होने के कारण और अति सूक्ष्म होने के कारण शब्द के द्वारा संज्ञा करण व्यवहार के लिये लोक में प्रयुक्त हुआ है।

इसका अभिप्राय यह है कि शब्द का अर्थ के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध अति सूक्ष्म है।

व्याप्य-व्यापक का अभिप्राय है एक का दूसरे से अटूट सम्बन्ध । कहा है कि प्रत्येक शब्द का कुछ अर्थ होता है। यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निश्चित है । इस कारण अर्थ जब नित्य है तो शब्द भी नित्य है ।

साथ ही यह कहा है कि यह अति सूक्ष्म सम्बन्ध है। इस पर भी है और स्थिर है ।

आचार्य का कहना है कि शब्दों और भाव का अटूट सम्बन्ध होने से शब्द भी भाव के साथ नित्य मानना चाहिये । ऐसा ही लोक-व्यवहार में आता है ।

किसी ने कहा, यह घट है । घट शब्द के स्थान पर पिचर (pitcher) हो गया। परन्तु घट तो नहीं बदला । अतः जब भी 'घट' अथवा 'पिचर' कहा जाता है तो वह पदार्थ ही समझ में आता है जो मिट्टी का जल भरने के लिये बना है ।

इस प्रकार एक वैदिक शब्द है 'चक्षणम्' । इसे पंजाबी में चखना कहते हैं । अंग्रेज़ी में इसे 'tasting' कहते हैं । क्योंकि भाव स्थिर है; इस कारण शब्द भी स्थिर ही है । शब्द और अर्थों का साथ-साथ का ही सम्बन्ध बना है ।

यास्क इस विषय पर अपने पूर्ण लेख का निष्कर्ष इस प्रकार देता है--

तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम् ॥ —यास्क नि० १-२

ऊपर यास्क ने कहा कि शब्द और भाव का स्थिर सम्बन्ध है 'लोके' । यास्क यही कहता है कि जैसा संसार में व्यवहार है वैसा ही देवताओं में भी है ।

अर्थात् दैवी वचन और अर्थ में भी सम्बन्ध स्थिर ही है। ऋग्वेद (८३ १००-१०,११) में 'दैवी वाचम्' कहा है । वहाँ देवताओं से यही अभिप्राय है । वह राष्ट्री जो देवताओं से मनुष्यों को मिली और वेद भी जो देवताओं से ऋषियों को मिले वे भी उस व्याप्ति सम्बन्ध को रखते हैं । व्याप्ति सम्बन्ध हम ऊपर समझा आये हैं ।

ऋषियों ने ही मन्त्रों के देवता नियत किये थे । यह उन्होंने शब्द और भाव का सम्बन्ध समझकर किया था । वह सम्बन्ध एक अटूट सम्बन्ध है । अतः ऊपर के वाक्य (१-२) का यह अर्थ बन जाता है कि मन्त्रार्थ का सम्बन्ध देवताओं के साथ अटूट है ।

वेद के प्रत्येक सूक्त, मन्त्र अथवा मन्त्रांश पर देवता ऋषियों ने लिख दिये थे और वे देवता मन्त्र, मन्त्रांश अथवा सूक्त (मन्त्र समूह) के अर्थों का वर्णन है ।

अतः मन्त्र के शब्दों का अर्थ मन्त्र के देवता से स्पष्ट होता है । शौणिक

ऋषि अपने ग्रन्थ बृहद्देवता में लिखते हैं—

मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा समाम्नायानुपूर्वशः ।
सूक्तगर्धर्चपादाम् ऋग्भ्यो वक्ष्यामि दैवतम् ॥१॥
वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः ।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति ॥२॥
तद्धितांस्तदभिप्रायान् ऋषीणां मन्त्रदृष्टिषु ।
विज्ञापयति विज्ञानं कर्माणि विविधानि च ॥३॥
न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम् ।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते ॥४॥
बृहद्देवता १-१,२,३,४,

अर्थ हैं—पूर्व में मन्त्रों का संग्रह करने वाले को नमस्कार कर मन्त्रों के सन्दर्भ को देखकर मैं कहता हूं कि सूक्त, मन्त्र, मन्त्रांशों, मन्त्र पाद का भाव बताने के लिये देवता कहे हैं।

मन्त्र के देवता का यत्नपूर्वक ठीक-ठीक भाव जानकर (अर्थ करने चाहियें)। जो देवता को जानता है वह मन्त्र का भाव समझ सकता है।

देवता को जानने वाला ही बता सकता है कि ऋषियों का मन्त्रों से अभिप्राय क्या था। सब मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों को उसका ज्ञान हुआ था।

क्योंकि विना देवता का ठीक-ठीक ज्ञान हुए मन्त्रों का प्रयोग और अर्थ नहीं जाना जा सकता।

अतः मन्त्र का अर्थ अर्थात् भाव देवता से पता चलता है। शौनक ऋषि के कहने का अभिप्राय यह है कि सूक्त, मन्त्र तथा मन्त्रांश के देवता का निश्चय मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने किया है।

अर्थ और भाव के अन्तर के विषय में भी यास्क ने कहा है। वह कहता है कि देवता भाव बताता है। शब्दार्थ उस भाव के अनुसार निर्वचन किये जाते हैं।

यास्क अपने निरुक्त में मन्त्रों के चार प्रकार के पद मानता है। वेद के सब प्रकार के पदों के संग्रह को समाम्नाय कहते हैं। यही सब निघण्टु है।

इसे क्यों निघण्टु कहते हैं ? यह इस कारण कि इसमें निगम है। निगम का अभिप्राय है अर्थबोध कराने वाला।

भाषा के चार भाग हैं। नाम, आख्यात्, उपसर्ग और निपात।

(१) नाम पद द्रव्यप्रधान होते हैं। अभिप्राय यह कि पदार्थों के नाम इस भाग में आते हैं। जैसे गोः, अश्व, पुरुष, स्त्री।

(२) आख्यात् वे पद हैं जो भावप्रधान हैं। जैसे व्रजति, पचति। इसी प्रकार 'भवतीति' है।

(३) उपसर्ग उन पदों को कहते हैं जो किसी नाम (संज्ञा) अथवा क्रिया पर प्रभाव उत्पन्न करें। ये स्वत: अर्थ नहीं रखते। (इन्हें अंग्रेजी भाषा में prefix अथवा preposition कहते हैं।)

(४) निपात का अर्थ है जो बीच में आ जाये। भाषा के सन्दर्भ में इसका अर्थ है क्रिया-विशेषण (adverbial adjunct)। इसका अर्थ है वे शब्द जो बीच में ऐसे आ जाते हैं जिनसे तुलना होती है।

निपात के विषय में यास्क कहता है—

उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति— यास्क नि० १-४

अर्थात्—उच्च और अवच। अभिप्राय यह कि अनेक प्रकार के अर्थों में (बीच में) गिरते (आ जाते) हैं।

कोई उपमा अर्थ में, कोई कर्म उप-संग्रह के अर्थों में और कभी प्रति-वेदार्थ के रूप में।

उपमा का उदाहरण है 'अग्निरिव' (ऋ० १०-८४-२)

निषेध का उदाहरण है 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (ऋ० ८-२-१२)

अर्थात्—अनेक अर्थ वाले शब्द बीच में आते हैं। निपात पदपूर्त्ति के लिये भी आते हैं। यथा हि, किल्, खलु इत्यादि शब्द।

अत: यास्क के मतानुसार वेद में चार प्रकार के पद आये हैं। लोक-भाषा में भी इसी प्रकार आते हैं। इसका कारण यह है कि वेदों के पदों से ही लोक-भाषा बनी है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रभाषा (लोक-भाषा) बनी तो ऋषियों ने उसमें वेदार्थ स्पष्ट किये। (ऋ ८-१००-१०,११) कालान्तर व्यवहार से लोकभाषा में शब्दार्थ तथा शब्दों के उच्चारण में अन्तर आ गया। अत: विधि-विधान समान होते हुए भी भाषाओं में अन्तर आ गया है।

वेद भाषा का व्यवहार से पृथक् रहने के कारण, इसके अर्थ और भाव परस्पर सम्बन्धित रहे हैं। इन अर्थों को यौगिक अर्थ कहते हैं। ये अर्थ शब्दों के धातुओं से सम्बन्धित हैं।

इन चारों प्रकार के पदों का सविस्तार वर्णन कर यास्क निरुक्तशास्त्र के विषय में कहता है—

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतीयतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देश:। (यास्क नि० १-१५)

अर्थात्—और भी इस (निरुक्तशास्त्र) के बिना मन्त्रों की प्रतीति अथवा अर्थ का ज्ञान नहीं होता। अर्थ को न जानने वाले के लिए पूर्णरूप से स्वर और संस्कार का उपदेश नहीं है।

अभी तक हमने इस अध्याय में यह स्पष्ट किया है कि—

(१) शब्द और अर्थ का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अटूट है।

(२) वेद पद चार प्रकार के हैं। नाम (संज्ञा वाचक), आख्यात् (क्रिया), उपसर्ग (संज्ञा और क्रिया के सम्बन्ध में आने वाले), निपात बीच में तुलना के लिए आने वाले।

(३) लोक भाषा और वेदभाषा में उक्त विभाजन समान है।

(४) यह सब निरुक्त के ज्ञान से पता चल जाता है।

: २ :

# निरुक्ताचार्य यास्क की विशेषता

यास्क लिखता है—

तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यं, स्वार्थसाधकं च।

(यास्क नि० १-१५)

अर्थात्—जो यह विद्या स्थान (निरुक्त ग्रन्थ) है, यह व्याकरण की पूर्णता करता है और अपने स्वतन्त्र अर्थ का साधक है।

इसका अभिप्राय है कि जब व्याकरण की दृष्टि से वेदमन्त्रों के अर्थ पूर्ण नहीं होते तब निरुक्त उस (व्याकरण) के अभाव को पूरा करता है और अपने निर्वचन से अर्थ की सिद्धि करता है।

वस्तुस्थिति यह है कि वेद कहे गये थे देवताओं द्वारा। ऋषियों ने उनको सृष्टि आरम्भ के समय मानवी भाषा में प्रकट किया। उस समय व्याकरण नहीं बना था। पीछे व्याकरणाचार्यों ने भाषा को नियम बद्ध करने का यत्न किया है। इस पर भी अनेक स्थान पर व्याकरण के नियम भली-भाँति लागू नहीं होते। वेदभाषा व्याकरण के अनुसार नहीं बनी, वरन् व्याकरण भाषा के अनुसार बनाने का यत्न किया गया है। अतः जहाँ कहीं मन्त्रार्थ विषय को ठीक प्रकट नहीं कर सकते और व्याकरण अर्थों को स्पष्ट करने में अशक्त

होता है वहाँ निरुक्त अपने नियम के अनुसार अर्थ स्पष्ट करता है। अपने अर्थों का निरुक्त स्वयं साधक (उत्तरदायी) है। अभिप्राय यह कि ऊपर कहे नियमों के अनुसार कोई विलक्षण अर्थ भी कर सकता है। वे निरुक्त के नियमानुसार होने चाहियें।

जहाँ व्याकरणानुसार अर्थ और देवता से कहे विषय में अन्तर आये तो, निरुक्ताचार्य कहता है कि विषयानुसार अर्थ करने चाहिएँ। ये अर्थ निर्वचन कहा जाता है। अर्थ और निर्वचन में अन्तर हो सकता है। इस पर भी निर्वचन शब्दार्थ और भाव से सीमित रहता है।

## यौगिक और रूढ़ी अर्थ

वेद के अर्थ रूढ़ी हो सकते ही नहीं। कारण यह कि रूढ़ी अर्थ भाषा के व्यवहार में आने पर बनते हैं। क्योंकि वेद सृष्टि के आदि में मिले और आदि राष्ट्रभाषा में कहे गये, इस कारण भाषा अभी व्यवहार में आयी नहीं थी। अतः शब्द के रूढ़ी अर्थ अभी नियत ही नहीं हुए थे। वेदार्थ में रूढ़ी अर्थ की पाबन्दी नहीं है। परन्तु शब्द के कौन-से अर्थ लिए जायें और कौन-से नहीं लिए जायें, यह यास्क बताता है।

एक धातु है 'गाङ्'। यह भ्वादि गण का धातु है और अर्थ है 'गतौ'। इससे बना है 'गौ' जो गति करता है। यह गाय, बैल, घोड़ा आदि जन्तु हो सकते हैं अथवा सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि नक्षत्र भी हो सकते हैं। पृथिवी भी हो सकती है। इसका अर्थ वाणी भी है। कारण यह कि यह भी चलती है।

यदि किसी मंत्र में गौ शब्द अथवा इसका कोई रूप आ जाये तो कौन-सा अर्थ लगेगा? यह समस्या उत्पन्न होती है। इसमें व्याकरण सहायक नहीं होता। यहाँ शब्दार्थ के लिए निर्वचन सहायक होगा और वह मन्त्र के देवता से पता चलेगा।

वैदिक भाषा में लगभग दो सहस्र धातु हैं और उनके साथ प्रत्यय तथा उपसर्ग लगने से लाखों की संख्या में शब्द बन जाते हैं। उनके अर्थ, कोष तथा व्याकरण से बद्ध नहीं होते। वे निर्वचन के अधीन हैं। इसमें भी यास्क पथ-प्रदर्शक के रूप में एक स्थान पर कहता है।

वह लिखता है—

अक्षरं न क्षरति। न क्षीयते वाऽक्षरं भवति। वाचोऽक्षं इति वा। अक्षो यानस्याञ्जनात्। तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यात्। इति।

—यास्क नि० १३-१२

अर्थात् — अक्षर खुरता नहीं अथवा नाश नहीं होता। वाणी अक्षः (धुरा) है। जैसे धुरे से चारों ओर अरे निकलते हैं, इसी प्रकार वाणी से अर्थ निकलते हैं।

यास्क सूक्ष्म शब्द की व्याख्या कर रहा है। वह कह रहा है कि शब्द है धुरा और यौगिक अर्थ हैं धुरे और चक्के को जोड़ने वाले अरे। निर्वचन। जैसे धुरे अरों और चक्र का सम्बन्ध रहता है, वैसे ही शब्द, अर्थ और निर्वचन का सम्बन्ध रहना चाहिये।

इसके उपरान्त यास्क कहता है—

अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः।

—यास्क नि० १३-१२

अर्थ हैं— अतः मन्त्रों के अर्थ पर विचार किया है। (अर्थ) श्रुति प्रमाण से (परस्पर विरोधी नहीं होने चाहियें), तर्क-संगत होने चाहियें। इस पर भी प्रकरण के अनुसार (पृथक्-पृथक् नहीं) होते। इस प्रकार इसका निर्वचन (भाव) प्रकट करना चाहिये।

आगे कहा है—

यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति— अनुभवति॥

—यास्क नि० १३-१३

अर्थात्—(पद) जिस-जिस देवता का निर्वचन (भाव प्रकट) करता है उस (देवता) के उस (ऐश्वर्य अर्थ) को अनुभव करता है।

इसका अर्थ है कि निर्वचन जहाँ शब्दार्थ से बँधा है वहाँ देवता (मन्त्र के विषय) के साथ भी बँधा होना चाहिये।

निर्वचन और अर्थ की व्याख्या में निरुक्ताचार्य यास्क ने इस विषय को और भी स्पष्ट किया है।

कहा है—

तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।

—यास्क नि० २-१

अर्थात्— जिन-जिन पदों में स्वर और संस्कार (प्रत्ययः विभक्ति आदि) समर्थ हो (अर्थ बताने में) वास्तविक पदार्थ बताने में और शास्त्र में बताये विकार से युक्त (व्याकरण के नियमों में रूप परिवर्तन) भी (समर्थन करते हों) वैसा ही उनका विवेचन करे। (अर्थात् अर्थ और निर्वचन समान होंगे)।

आगे आचार्य कहते हैं—

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत । केनचिद् वृत्तिसामान्येन । —यास्क नि २-१

अर्थात्—और अन्विते (अर्थ संगत न होने पर) व्याकरण की प्रक्रिया से भी अर्थ नहीं बने तो अर्थ (भाव) की नित्यता पर विचार कर किसी भी वृत्ति (व्यवहार)की समानता से परीक्षा कर ले। (शब्द में धातु की समानता से अर्थ करे)।

और भी कहा है—

अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात् ।

—यास्क नि० २-१

जहाँ (धातु आदि की) समानता भी न हो वहाँ अक्षर अथवा वर्ण की समानता से स्वर व्यंजन की समानता से निर्वचन (भाव ज्ञान) कर ले। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मन्त्रादि के विषय (देवता) का वर्णन छोड़ कुछ-का-कुछ कहने लगे।

निर्वचन(भाव प्रकट)करते समय यह आवश्यक है कि देवता से निर्दिष्ट विषय का वर्णन न छोड़े।

अतः यह अत्यावश्यक हो गया है कि देवता का ज्ञान भली-भाँति हो।

देवता का विचार करके किस प्रकार निर्वचन किया जा सकता है? इसके कुछ उदाहरण देने से भाव स्पष्ट हो जायेगा।

हम एक मन्त्र लेंगे और तीन भाष्यकारों के निर्वचन उपस्थित करेंगे। इससे पाठक समझ सकेंगे कि कौन-सा निर्वचन अधिक उपयुक्त है और क्यों है?

एक मन्त्र है (यह मन्त्र किसी अन्य सन्दर्भ में पहले भी दे चुके हैं यहाँ निर्वचनों को प्रकट करने के लिये दे रहे हैं।)—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन् त्समुद्रादुत वा पुरीषात् ।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन् ॥

—ऋ० १-१६३-१

इस सूक्त का देवता है 'अश्वोऽग्निः'। निर्वचन समझने के लिए इस देवता का अभिप्राय समझना चाहिये। बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्धरण से हमने अश्व के अर्थ समझाये थे अर्थात् जो कार्य को आगे ले जाये।

यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में अश्व की परिभाषा इस प्रकार की है—

"अश्वः कस्मात् । अश्नुतेऽध्वानम् । महाशनो भवतीति वा । तत्र दधिक्रा इत्येतद् दधत्क्रामतीति वा।······ —यास्क नि० २-२७

अर्थात्—अश्व क्यों? क्योंकि वह मार्ग को तय करता है। बहुत तेज़ी

से गति करता है। यह बहुत खाने वाला होता है। अर्थात् किसी को धारण किये हुए पग आगे को करता है।

अतः वेगवान, आगे बढ़ने वाले को और जो बढ़ते हुए वस्तुओं को खाता जाता हो, अश्व कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में सृष्टि-रचना को वेग से और क्रम वार चलने वाले को अश्व कहा है।

इस सूक्त (ऋ-१-१६३-१) में अग्नि परमात्मा का तेज है। रचना कार्य को वेग ले चलाने में अश्व का उल्लेख है।

मन्त्र का पदच्छेद इस प्रकार है—

यत्, अक्रन्दः, प्रथमम्, जायमान, उत्, यन, समुद्रात्, उत्, वा, पुरीषात्। श्येनस्य, पक्षा, हरिणस्य, बाहू, उपस्तुत्यम्, महि, जातम्, ते अर्वन्॥

वेंकट माधव इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

यदा त्वं शब्दं कृतवानसि पुरा जायमानः उद्यन् अन्तरिक्षात्, अपि वा जलात्। अद्भयोऽन्तरिक्षाच्चाश्वो जातः। तदानीं शीघ्रं प्रादुर्भवतः श्येनस्य पक्षौ पक्षावास्ताम् हरिणस्य बाहू बाहू, तत् तव अश्व। महत् जननम् उपस्तोतव्यम्॥

अर्थात्—जब तुमने शब्द किया, पुरातन काल में उत्पन्न होते हुए अर्थात् ऊपर उठते हुए अन्तरिक्ष से, अथवा जल से। जलों से और अन्तरिक्ष से अश्व उत्पन्न हुआ। तब शीघ्र प्रकट होते हैं बाज के दोनों पंख, अर्थात् दोनों पक्ष थे। हरिण की दो भुजायें दो शक्तियों से वह तुम्हारा है। हे अश्व! महान जन्म स्तुति के योग्य है।

सायण इस प्रकार भाष्य करता है—

हे अर्वन् अरणकुशलाश्व ते तव जातं जन्म जननम् उपस्तुत्यम् उपेत्य सर्वैः स्तोतव्यम्॥ स्तौतेः एतिस्तुशास्वृ इति क्यप्। ततः तुक्॥ कथं स्तुत्यत्व-मिति उच्यते। यत् यस्मात् समुद्रात्। अन्तरिक्षनामैतत्। उदकसमुन्दनापादानात् यक्षगन्धर्वादिसंमोदनाधिकरणात् वा अन्तरिक्षात्। प्रथमं पूर्वं जायमानः उत्पन्नः। यद्वाः। समुद्रः आदित्यः समुन्दनात् वृष्ट्या। तस्माद्वा जायमानः। 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (ऋ० सं०-१-१६३-२)। इति वक्ष्यमाणत्वात्। उत वा अथवा पुरीषात् सर्वकामानां पूरकात् उदकात् प्रथमम् उद्यन् जायमानः। स तादृशस्त्वं यत् यस्मात् अक्रन्दः महाशब्दमकरोः यजमानमनुग्रहीतुम्। किंच ते पक्षा पतनसाधनौ पक्षौ श्येनस्य पक्षाविव। तौ यथा शीघ्रपतनसाधनौ तादृशा-वित्यर्थः। तव बाहू हरिणस्य बाहू इव। तौ यथा वेगवन्तौ तादृशावित्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात्ते जन्म स्तुत्यमित्यर्थः॥

अर्थात्—हे अर्वन् ! तेज़ चलने में कुशल तुम्हारा जन्म सबसे स्तुति किये जाने योग्य है। स्तु धातु से 'एतिस्तुशास्वृ' इत्यादि सूत्र से क्यप् प्रत्यय हुआ। उससे तुक् प्रत्यय। कैसे स्तुति योग्य (है) इस विषय में कहा जाता है। जहाँ से—समुद्रात् यह अन्तरिक्ष का नाम है। उदक (भिगो देने वाले उपादान से) अथवा यक्षगन्धर्वादि की प्रसन्नता के आश्रय से अन्तरिक्ष में। पहले उत्पन्न हुआ अथवा समुद्र आदित्य है—भिगो देने से वृष्टि से। अथवा उससे उत्पन्न होता हुआ। (जैसे उगाल) ऋ०-१-१६३-२ में कहा है कि सूर्य से अश्व को वसुओं ने रचा) यह कहा जायेगा। अथवा सब कामनाओं के पूर्ण करने वाले जल से पहले उत्पन्न होता हुआ। ऐसा तूने जिस कारण से महान शब्द किया। यजमान पर कृपा करने के लिये और तेरे उड़ने के साधन दोनों पक्ष श्येन के पक्षों के समान। वे दोनों जैसे शीघ्र उड़ने के साधन वैसे यह अर्थ है। तुम्हारी दो भुजायें हरिण की भुजाओं के समान। वे जैसी वेग वाली हैं। वैसे यह अर्थ है। इसलिये तुम्हारा जन्म स्तुति के योग्य है। यह अर्थ है।

अब इसी मन्त्र पर स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाष्य देखिये--

यत्=यस्मात् कारणात्। अक्रन्दः=शब्दायसे। प्रथमम्=आदिमम्। जायमानः=उत्पद्यमानः। उद्यम्=उदयं प्राप्नुवन्। समुद्रात्=अन्तरिक्षात्। उत=अपि। वा=पक्षान्तरे। पुरीषात्=पूर्णात्कारणात्। श्येनस्य=पक्षपक्षौ। हरिणस्य बाहु=बाधकौ भुजौ। उपस्तुत्यम्=उपस्तोतुमर्हम्। महि=महत्। जातम्=उत्पन्नम्। ते=तव। अर्वन्=विज्ञानवन्।

स्वामी दयानन्द ने भावार्थ पृथक् लिखा है।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोमालङ्कार है। जो धर्मयुक्त ब्रह्मचर्य से विद्याओं को पढ़ते हैं वे सूर्य के समान प्रकाशवान्, बाज के समान वेगवान् और हरिण के समान कूदते हुए प्रशंसित होते हैं।

स्वामी दयानन्द जी का भाष्य वेंकट माधव और सायण दोनों से भिन्न है। स्वामी जी ने मन्त्र के देवता की ओर ध्यान दिया प्रतीत नहीं होता।

हम इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं—

श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू=बाज के पंखों तथा हरिण की बाहों के समान वेगगामी। अर्वन्=तीव्र गति से चलनेवाला=तेज। उत्-यन् समुद्रात्=समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष से ऊपर को जाता हुआ। यत् अक्रन्दः=जिससे घोर शब्द हुआ। प्रथमम् जायमानः=पहले उत्पन्न होता हुआ। उत वा पुरीषात्=अथवा सब कामना पूर्ण करने वाले हो। ते महि जातम् उपस्तुत्यम्=वह महान्

उत्पन्न हुआ। स्तुति अर्थात् मनन और चिन्तन करने योग्य है।

हमारा भाष्य ऊपर के तीनों विद्वानों से भिन्न है। हम समझते हैं कि हमारा भाष्य देवता से अधिक सम्बन्ध रखता है। स्वामी जी ने 'अश्नो-अग्निः' का अर्थ ब्रह्मचारी किया है।

वेंकट माधव और सायण ने मन्त्रार्थ तो सृष्टि-रचनापरक ही लगाये हैं। इस पर भी उनका निर्वचन हम से भिन्न है। हमने महि का अर्थ महत्, जिसे कपिल प्रकृति की साम्यवस्था भंग होने पर प्रथम परिणाम मानता है, किया है।

अर्वन् का अर्थ मोनियर विलियम्ज़ करते हैं : running quick (said of Agni and Indra) इसका अभिप्राय है परमात्मा का तेज।

शतपथ ब्राह्मण में प्राणों के स्वामी को इन्द्र कहा है। वहाँ लिखा है—

सो यं मध्ये प्राण:। एष ऽएवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत: ऽइन्द्रियेणेन्द्ध···

अर्थात्—यह प्राण ही मध्य में इन्द्र है। इसी इन्द्र ने अपने इन्द्रिय अर्थात् पराक्रम से मध्य में इन प्राणों को दीप्त किया।

अत: अर्वन् से अभिप्राय है आदि प्राण यथा मन्त्र १०-१२९-३ 'यदा-सीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्'।'

अर्थात्—वह तपस् के महान सामर्थ्य से एक प्रकट हुआ। हम अर्वन् और अश्व को समानार्थ वाचक मानते हैं। रचना कार्य को आरम्भ करने वाला अश्व, अर्वन् अथवा तेज है।

: ३ :

# देवता

यह हम बता चुके हैं कि सूक्त, मन्त्र अथवा मन्त्रांश के ऊपर लिखा देवता उस सूक्त, मन्त्र अथवा मन्त्रांश का विषय होता है। उस सूक्त, मन्त्र अथवा मन्त्रांश में उसी विषय पर कथन होता है। हमने यह भी बताया है कि जहाँ व्याकरण का मन्त्र. विशेषताओं (संस्कारों) से सामंजस्य न बैठे, यहाँ देवता का (विषय) का ध्यान रखते हुए व्याकरण का भी उल्लंघन किया जा सकता है।

यह बात समझ में आती भी है। यह इस प्रकार कि वेद व्याकरण बननें

से भी पहले कहे गये थे। व्याकरण मनुष्यकृत होने से वेद वाणी को सीमाओं में बाँधने में सफल नहीं हो सका। वेद का सम्बन्ध भाव, प्रकरण अर्थात् देवता से अधिक होता है और व्याकरण के नियमोपनियमों से कम।

इस प्रकार के विषयसूचक देवता ऋग्वेद में लगभग सवा पाँच सौ हैं। यजुर्वेद में इनकी संख्या लगभग तीन सौ है। अथर्ववेद में बहुत से मन्त्र ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के ही हैं और उनके देवता प्रायः समान हैं। कहीं-कहीं मन्त्र भेद न होते हुए भी देवता भिन्न हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी भिन्न हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि एक ही मन्त्र, ऋषियों ने दो भिन्न-भिन्न विषयों पर कहा है।

यह हम बृहद्देवता ग्रन्थ के प्रमाण से बता चुके हैं कि मन्त्र के देवता मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने नियत किये थे। मन्त्रों के देवता नियत करने के उपरान्त ही वेदों को मण्डलों, सूक्तों, अष्टकों, अनुवाकों इत्यादि में विभक्त किया जा सका था। यह विभाजन विषयानुसार ही किया गया था।

इन विषय-सूचक देवताओं के अतिरिक्त भी देवताओं का कथन वेदमंत्रों के बीच में आया है। इस विषय में एक मन्त्र इस प्रकार है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधावदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋ० १-१६४-४६

इस मन्त्र में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्व आदि बहुत से देवताओं को परमात्मा का वाचक माना है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या मन्त्र के बीच में आनेवाले देवता का अर्थ दूसरा होता है और विषयसूचक स्थान पर आये देवता का अर्थ दूसरा होता है? इस में हमारा मत है कि हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। वस्तुस्थिति यह है कि वेद के अन्य शब्दों और पदों की भाँति ये भी यौगिक अर्थ वाले होते हैं। जहाँ जो उपयुक्त अर्थ प्रतीत हों वही अर्थ लग सकते हैं।

उपरोक्त मन्त्र में ही इन्द्र, मित्र, वरुण इत्यादि शब्दों का अर्थ परमात्मा है। ये सब नाम परमात्मा के भी हैं। विद्वान लोग परमात्मा के विषय में अपने भाव प्रकट करने के लिए भिन्न-भिन्न नामों का प्रयोग करते हैं।

परन्तु यह बात सब मन्त्रों में नहीं है। देवताओं के अर्थ भी तो मन्त्र को देख कर ही पता चलते हैं। वास्तव में मन्त्र और देवता अन्योन्याश्रय हैं। दोनों, देवता और मन्त्र, के अर्थ विचारकर मन्त्रार्थ किये जाते हैं।

यह बात सब मन्त्रों में नहीं है। प्रायः देवताओं के अर्थ निश्चित होते हैं और मन्त्रार्थ उस देवता को विचार कर किये जाते हैं। ऋचाओं में आने वाले देवताओं के अर्थ विषयसूचक देवता के अनुसार किये जाते हैं।

इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मन्त्र के तीन अथवा अधिक प्रकार के अर्थ होते हैं ? इस विषय में हमारा मत है कि नहीं। इसमें निरुक्त का मत और स्वामी दयानन्द का मत हम आगे चलकर बतायेंगे।

यहाँ हमारा प्रयोजन केवल इतना स्पष्ट करने से ही है कि मन्त्रसूक्तादि के ऊपर विषयसूचक आये देवता और मन्त्र के बीच में आये देवता में अन्तर नहीं। दोनों समान रूप में प्रयोग होते हैं।

वेद में कहे गये सब देवताओं के विषय में तो कहा नहीं जा सकता। इसके लिए जहाँ स्थान का अभाव है, वहाँ अपनी योग्यता की भी सीमा है। इस पर भी कुछ एक देवताओं के विषय में हम यहाँ कुछ व्याख्या से वर्णन करना चाहते हैं। इससे वेदों को समझने में सहायता मिलेगी। उससे पूर्व हम देवताओं के विषय के यास्क का मत लिख देना चाहते हैं।

यास्क कहता है—

**देवानां निर्माणं प्रथमा अतिष्ठन्माध्यमिका देवगणाः। प्रथस इति मुख्य-नाम प्रतमो भवति।** निरुक्त—२-२२

अर्थात्—देवों के निर्माण होने में प्रथम माध्यमक एक गण है। यहाँ प्रथम का अभिप्राय है मुख्य अर्थात् सर्वश्रेष्ठ।

इस वाक्य का अभिप्राय यह बनता है कि जो माध्यमिक देवता है वह मुख्य है। अर्थात् उसका प्रभाव इस पृथिवी पर सबसे अधिक है। इस संदर्भ में यास्क एक वेदमन्त्र का उद्धरण देता है। वेदमन्त्र इस प्रकार है—

**देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।**
**त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥**

ऋ० १०-२७-२३

अर्थ है—देवानाम् माने=देवताओं के निर्माण के समय। प्रथमा अतिष्ठन्—पहले स्थित हुए (परमात्मा के आदेश से)। एषाम् कृन्तत्रात्=(परमाणुओं की) जोड़-मोड़ से; उपरा उत् आयन्=उपरा (अहंकार) उत्पन्न हुए (देखो ऋ० १-१६३-३)। त्रैयः तपन्ति=तीन तपते हैं; पृथिवीम् अनूपा=पार्थिव पदार्थ बने। द्वा गृ बृबूकम्—इनमें से दो बरसने लगे। (अभिप्राय यह कि इन तीन में से वैकारिक अहंकार और भूतादि अहंकार (protons and neutrons) कार्यरत हुए। वहतः पुरीषम्=कामना पूर्ण करने वाले तैजस्

अहंकार (electrons) बहने लगे अर्थात् इधर-उधर उड़ने लगे।

ये अर्थ यास्क द्वारा किये अर्थों से कुछ भिन्न हैं। अन्तर निर्वचनों में है। शब्दार्थ वही हैं।

इसी विषय में मनुस्मृति में निम्न श्लोक मिलते हैं—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥
ताभ्यां शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥

मनु० १-१२, १३

हिरण्यगर्भ की अवस्था का वर्णन है। उस अण्डे में एक सम्वत्सर भर भगवान् ने तपस्या की और तब अण्डा फूटा जिससे द्यूलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष उत्पन्न हुए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि देवताओं का अर्थ सृष्टि के दिव्य गुणयुक्त पदार्थ हैं। प्रथम-स्थाना देवता तो परमात्मा का तेज था। (देखें ऋ० १०-१२६-३) उसने रचना आरम्भ की। उसके उपरान्त मध्य-स्थाना देवता बने।

भाष्यकार मध्य-स्थाना का अर्थ करते हैं जो अन्तरिक्ष में स्थित हैं। हमारा विचार है कि इस शब्द के अर्थ हैं वे दिव्य गुणयुक्त पदार्थ जो सृष्टि रचना क्रम में पीछे बने।

अब हम मध्य स्थाना देवताओं की व्याख्या करेंगे कि सृष्टि रचना क्रम में मध्य में कौन-कौन देवता हैं।

एक वेद मन्त्र (ऋ० १-१६३-१) हम ऊपर बता चुके हैं। वह प्रथम स्थाना देवता के विषय में है। वहां उसे अर्वन् कहा है। कहा है कि वह बहुत तीव्र गति से भागता है। घोर गर्जना करता है। वह परमात्मा की प्रेरणा से कार्य करता है।

इस प्रथम-स्थाना देवता के विषय में एक अन्य वेदमन्त्र है। परन्तु उस मन्त्र को लिखने से पूर्व यह अधिक उचित होगा कि उन मन्त्रों को भी दे दिया जाय जो उस अवस्था का वर्णन करते हैं जिसमें यह प्रथम स्थाना देवता अर्थात् परमात्मा का तेज काम करता है।

ये मन्त्र इस प्रकार हैं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥१॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥

अर्थ है—तदानीम्=इस जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व। न असत् आसीत्=असत् अर्थात् टूटने-फूटने वाला कुछ नहीं था। न सत् आसीत्=न ही सत् (दिखाई देता) था। न रजः आसीत्=लोक (asteroids) नहीं थे। नो व्योमा=आकाश नहीं था। यत् परः—जो (व्योम से भी परे था) नहीं था। किम् आ अवरीवः=क्या था जो सबको चारों ओर से घेरे हुए था। कुह= फिर यह कहाँ था। कस्य शर्मन्=किसके आश्रय था। किम्=क्या था। गहनम् गभीरं अम्भः आसीत्=गहन और समुद्र की भाँति गम्भीर क्या था।

इस मन्त्र में सृष्टि-रचना से पूर्व की अवस्था का वर्णन किया है। अगले मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—

मृत्युः न आसीत्=उस समय नष्ट होने योग्य (कुछ) नहीं था। तर्हि न अमृतम्=और न ही कुछ न नष्ट होने वाला था। न रात्र्या प्रकेतः आसीत्= रात्रि का भी ज्ञान नहीं था। न अह्नः प्रकेतः आसीत्=दिन का भी ज्ञान नहीं था। (तो क्या था? उसका वर्णन किया है) तत् एकम् आनीत् अवातम्=वहाँ एक गति रहित प्राण था। स्वधया=अपने बल से (टिकी स्वधा) थी। तस्मात् किं चन परः न आस=उससे परे कुछ नहीं था।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सृष्टि-रचना से पूर्व दो वस्तुएँ थीं। एक निश्चल प्राणशक्ति और दूसरे अपने ही बल से स्थिर स्वधा (प्रकृति)।

यह अवस्था थी, जब प्रथम स्थाना देवता उत्पन्न हुआ। उसके विषय में मन्त्र है—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतम् सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥३॥

अर्थ है—अग्रे=सृष्टि से पूर्व। तमः आसीत्=अन्धकार था। (यह तमसा गूळम्=अन्धकार से व्याप्त था। (वह) अ प्रकेतम्=कुछ भी विशेष जानने योग्य न था। (वह) सलिलम्=बह जाने वाला द्रव्य था। सर्वम् इदम् अ=अथवा वह सब (एक) था। यत् तुच्छ्येन=जो अति सूक्ष्म था। आभू अपिहितम्=चारों ओर से ढका हुआ था। तत् परा महिना एकम् अजायत्= तप से एक महान् प्रकट हुआ।

जो अवस्था ऊपर के दो मन्त्रों में वर्णन की है उसमें (सलिल प्रकृति में) तप से महान् हुआ एक उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने का अभिप्राय प्रकट होना है। यह प्रकट होने वाला परमात्मा का तेज है, जो प्रथम स्थाना देवता है। पहले

वह निश्चल था। पीछे गति में आ गया।

यह जो एक प्रकट हुआ उसने क्या किया ?

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

—ऋ० १०-१२९-४

अर्थात्—कामः समवर्तत=कामना सर्वत्र विद्यमान थी। अग्रे=पहले। तत् मनसा अधि=वह मन से उत्पन्न होने वाली। (यहाँ मन से अभिप्राय मनस्वी परमात्मा से है)। यत् प्रथमम् रेतः आसीत्=जो (कामना) पहला बीज था। बन्धुम् असति सतः निरविन्दन्=अव्यक्त को सत में बांधनेवाला हुआ। कवयो मनीषा हृदि प्रतीष्या=उस महान् मननशील परमात्मा ने हृदय में विचार कर (यह आरम्भ किया)।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि परमात्मा जो महान् विद्वान् और विचारवान है, उसने विचार कर अव्यक्त प्रकृति को अपने तेज से व्यक्त में बाँध दिया।

वह तेज जो स्वरूपवान् नहीं था, उसने अस्वरूपवान् प्रकृति को बाँध कर स्वरूपवान् पदार्थों में बदल दिया।

उस तेज ने किस प्रकार अपना कार्य किया ? यह भी लिखा है—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधः अवस्तात् प्रयति परस्तात्॥

—ऋ० १०-१२९-५

अर्थात्—रश्मिः तिरश्चीनः विततः एषाम्=टेढी चलने वाली (तेज की किरणें) फैल गयीं इनके (परमाणुओं के)। अधः स्वित् आसीत् उपरिस्वित् आसीत्=नीचे और ऊपर हो गयीं। रेतोधा आसन्महिमा आसन्=महिमा वाले (परमाणु) जो रेतस् (बीज) धारण करने वाले थे। स्वधा अवस्तात्=प्रकृति नीचे हो गयी। परस्तात् प्रयति=शक्ति (तेज) ऊपर हो गयी।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि तेज, किरणों की भाँति तिरछा चलता हुआ, प्रकृति परमाणुओं के नीचे और ऊपर छा गया। प्रकृति के परमाणु नीचे हो गये और तेज ऊपर हो गया।

प्रथम दिव्य-पदार्थ का बहुत ही स्पष्ट वर्णन इन मन्त्रों में मिलता है। यह प्रथम स्थानीय देवता एक ही था। इसे अग्नि, प्राण इत्यादि का नाम भी दिया जाता है।

मध्य स्थानीय देवताओं में मुख्य वायु है। इसके विषय में यास्क अपने

निरुक्त में लिखता है—

अथातो मध्यस्थाना देवता: । तासां वायु: प्रथमागामी भवति ।

—या० नि० १०-१

अर्थात्—अब मध्य स्थान वाले देवताओं का वर्णन करेंगे। उनमें वायु प्रथम (प्रमुख) माना जाता है।

मध्य स्थाना का अर्थ है सृष्टि क्रम के मध्य में। हमने बताया है कि परमात्मा का तेज प्रथम स्थाना देवता है। यह सबसे पहले उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद के मन्त्र के अनुसार इस (तेज) ने प्रकृति में परिणाम उत्पन्न करने आरम्भ किये। तब प्रकृति में से अन्य दिव्य गुणयुक्त पदार्थ (देवता) उत्पन्न हुए। ये सब मध्य स्थाना देवता हैं। इनमें वायु प्रमुख था।

प्रमुख से अभिप्राय पहले बनने वाला नहीं। इसका अभिप्राय है कि वायु अन्य मध्य स्थाना देवताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण देवता है।

सांख्य के अनुसार इसे देखें तो यह इस प्रकार होगा। परमात्मा की शक्ति से परमाणुओं की साम्यावस्था भंग हुई। साम्यावस्था भंग होने का (हमारे विचारानुसार) अभिप्राय यह है कि सत्त्व, रजस्, तमस गुण जो अन्तर्मुखी थे, बहि: मुखी हो गये। तब उनमें आकर्षण-विकर्षण होने लगा।[1] तब महत् बना और महत् से अहंकार बने। अहँकारों से तन्मात्रा बनीं।

अभिप्राय यह है कि वायु या तो पाँचों तन्मात्र समूह को कहा जा सकता है अथवा उनमें से एक को। हमारा मत है कि वायु से अभिप्राय पाँचों तन्मात्र समूह है। हमारे मत की पुष्टि वृहदारण्यक उपनिषद् के इस पाठ से होती है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—

एक बार आरुणि उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से कहा, "मैं मद्र देश में यज्ञ-शास्त्र का अध्ययन करते हुए कपि गोत्रोत्पन्न पतञ्जल के घर रहता था। उसकी भार्या गन्धर्व द्वारा गृहीत थी। हमने उस गन्धर्व से पूछा कि वह कौन है ? उसने कहा कि वह अथर्वणक बन्ध है। उसने कपि गोत्रीय पतञ्जल और उसके याज्ञिकों से पूछा कि क्या हम बता सकते हैं कि जिसके द्वारा यह लोक-परलोक और सारे भूत ग्रथित हैं, वह क्या सूत्र है ?

तब उस काप्य पतञ्जल ने कहा, 'भगवन्! मैं नहीं जानता।

आरुणि ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! इस सूत्र के विषय में तुम जानते हो क्या ?'

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें लेखक की रचना 'विज्ञान और विज्ञान, पृ० ३९ पर।

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हाँ मैं जानता हूँ।'

आरुणि ने कहा, 'जानते हो तो बताओ।' इस पर याज्ञवल्क्य ने बताया—

"स होवाच वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि तस्माद् वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रँ् सिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्-याज्ञवल्क्याऽन्तर्यामिणं ब्रूहीति। —बृ० उ० ३-७-२

अर्थात्—'हे गौतम। वायु ही वह सूत्र है। वायु रूप सूत्र के द्वारा ही ये लोक, परलोक और समस्त भूत समुदाय गुँथे हुए हैं। हे गौतम! इसी मृत पुरुष को ऐसा कहते हैं कि इसके अंग विस्रस्त (विशीर्ण) हो गये हैं, क्योंकि हे गौतम! वे वायु रूप सूत्र से ही संग्रथित होते हैं।

आरुणि ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य! ठीक है। यह ऐसा ही है। अब तुम अन्तर्यामी का वर्णन करो।'

कपिल ने सांख्यदर्शन में कहा है—

स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य। —सां० १-६२

अर्थात्—स्थूल जगत् को देखकर तन्मात्र गण का ज्ञान होता है।

अभिप्राय यह है कि याज्ञवल्क्य जिसे वायु कहता है, उसे हाँ कपिल पञ्च तन्मात्र गण कहता है। जो बात याज्ञवल्क्य ने वायु से सम्पन्न होती कही है वही सांख्य के विचार से तन्मात्र गण से हो रही कही गयी है। इसी कारण हमने कहा है कि सांख्य दर्शन में कही तन्मात्र वृहदारण्यक की वायु है और यही मध्य स्थाना मुख्य देवता है।

सृष्टि-क्रम इस प्रकार है—

साम्यावस्था भंग परमाणु → महत् → अहंकार → तन्मात्र गण → पंच स्थूल महाभूत → जगत् के सब चराचर पदार्थ।

यास्क ने वायु के कार्य को वर्णन करने के लिये एक वेद मन्त्र उद्धृत किया है। मन्त्र इस प्रकार है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ —ऋ० १-२-१

अर्थात्—हे वायु, आओ और जगत् के पदार्थों को सुन्दर बनाओ। उनको पियो अर्थात् उनको स्थिर रखो (जिससे वे सुन्दर बने रहें)। हमारे इस आह्वान को सुनो।

अभिप्राय यह है कि वेद भी यह कहता है कि वायु ही सब पदार्थों को स्वरूप में ग्रथित किये हुए है।

वायु के अतिरिक्त और भी मध्य-स्थाना देवता हैं।

हमने एक मन्त्र (ऋ० १०.२७-२३) ऊपर लिखा है। उसमें वायु के लिए 'प्रथमा' शब्द आया है। इस मन्त्र के भाष्य में यास्क कहता है कि 'प्रथमा' शब्द का अर्थ है मुख्य।

इसका अभिप्राय यह है कि वायु के अतिरिक्त भी मध्य स्थाना देवता हैं। वायु के साथ इन्द्र का घना सम्बन्ध माना गया है। इन्द्र के विषय में यास्क एक मन्त्र देता है। मन्त्र इस प्रकार है—

आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः।
अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत्॥
—ऋ० ६-३७-३

इस सूक्त का देवता इन्द्र है। यास्क इन्द्र को मध्य स्थाना देवता मानता है। मध्य स्थाना के अर्थ भाष्यकारों ने, 'अन्तरिक्ष में स्थित' माना है। हम ऐसा नहीं मानते। हमारे विचार में मध्य स्थाना का अभिप्राय है सृष्टि-रचना-क्रम में जो मध्य में बने। इस कारण हम इन्द्र को भी वायु की भाँति सृष्टि-रचना-क्रम में मध्य में बना कोई दिव्य गुणयुक्त पदार्थ मानते हैं। यह वायु के उपरान्त अथवा उसके साथ ही बना प्रतीत होता है।

महर्षि स्वामी दयानन्द इस सूक्त में इन्द्र को मनुष्यपरक मानते हैं। हम मनुष्य को न तो अपने विचार से और न ही अन्य भाष्यकारों के विचार से मध्य स्थाना मानते हैं। अन्य भाष्यकारों के विचार से यह पृथिवी स्थाना देवता है। हम मनुष्य को देवता तो मानते हैं। इसे भी विश्व देवताओं में (ऋ० १-१६४ १ में) गिनाया गया है।

परन्तु यह मध्य स्थाना नहीं है। सृष्टि क्रम में यह अन्तिम स्थाना है। अतः हम इन्द्र का अर्थ मनुष्य अथवा राजा नहीं मानते।

यास्क इस वेद मंत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

चारों ओर से सरकने वाले, अति बल वाले इन्द्र को रथ में अश्व से जुते हुए कल्याणकारी चक्राकार गति में ऋजु गति से अन्न के आश्रित है वायु से अमृत अर्थात् निरंतर चलने वाला है। यह नष्ट न हो।

हम समझते हैं कि इस मंत्र में एक परिमण्डल (atom) का चित्र खींच-कर इन्द्र का अभिप्राय तैजस् अहंकार बताया है।

कहा है कि इन्द्र ऋजु गति से चल रहा है। मोनियर विलियम्ज़ ने अपने शब्द कोष में ऋजु के कई अर्थों में से ये अर्थ भी दिये हैं—'motion like planets' अर्थात् ग्रहों की भाँति गति।

तैजस् अहंकार (electrons) एक परिमण्डल (atom) में वैकारी और भूतादि अहंकारों (protons and neutrons) के आश्रय (आकर्षित) चारों ओर अति वेग से चक्र लगा रहे होते हैं। मंत्र में अन्न के आश्रय कहा है। यहाँ अन्न का अभिप्राय वह पदार्थ है जिससे पदार्थों का द्रव्यमान (mass) बनता है। ये वैकारिक और भूतादि अहंकार ही हैं।

अतः मंत्र का अर्थ है कि इन्द्र वायु के वल से सरकता है। तैजस् अहंकार एक परिमण्डल में एक तन्मात्र के बल से ही निरन्तर घूमा करता है[1]। तैजस् अहंकार की गति वैकारिक और भूतादि अहंकारों के चारों ओर वैसी ही है जैसी सूर्य के चारों ओर ग्रहों की है। इसी कारण इस गति को ऋजु कहा है।

वर्तमान विज्ञान के अनुसार विद्युत तैजस् अहंकारों का एक प्रवाह मात्र है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्र विद्युत हुआ।

वैसे यास्क के निरुक्त में लिखा है—

इन्द्रप्रधानेत्येके। नैघण्टुकं वायुकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम्। १०-३

अर्थात्—इन्द्र प्रधान (मुख्य) है। ऐसा कई एक आचार्यों का मत है और वायु का कर्म गौण है। दोनों प्रधान हैं। यह अपर (दूसरा) पक्ष है। अभिप्राय यह है कि वायु और इन्द्र दोनों समान शक्ति वाले हैं। दोनों विद्युत (तैजस अहंकारों) को गति देने वाली शक्ति होने से समान महत्व के देवता हैं। यद्यपि कुछ भाष्यकार एक को प्रधान कहते हैं और कुछ दूसरे को।

इसी प्रकार वरुण भी मध्य स्थाना देवता है। वरुण का अभिप्राय है विद्युत में वर्षा की बूंदें वनाने की शक्ति।

कभी यह देखने में आता है कि वादल आते हैं और बरसते नहीं। कभी विद्युत भी चमकती रहती है। वेद का कहना है कि विद्युत में एक विशेष दिव्य गुण युक्त शक्ति होती है, जिससे बादलों में वहुत ही सूक्ष्म बूंदें बड़ी-बड़ी बूंदें वन वरसने लगती हैं। वह शक्ति वरुण कहाती है। वर्तमानकाल का ऋतु सम्बन्धी विज्ञान (metereological science) अभी इस विषय में कुछ जानता प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि वर्षा सम्बन्धी भविष्य वाणी प्रायः मिथ्या हो जाती है।

इस विषय में एक वेद मन्त्र इस प्रकार है—

---

१. विस्तृत विवेचन के लिये देखें—लेखक कृत विज्ञान और विज्ञान एवं सॉंख्य-दर्शन सरल सुबोध भाषा भाष्य में तन्मात्र गण पर व्याख्या।

नीचीनबारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥

ऋ० ५-८५-३

अर्थात्—वरुण ने मेघ (बादल को) को नीचे की ओर द्वार वाला विशेष रूप से किया। इससे आकाश और पृथिवी अन्तरिक्ष में और भुवन की भूमि जल थल हो गयी। इससे जौ (खेतों की उपज) भरपूर हुए।

पहले संगठन करने वाली वायु का वर्णन किया, पीछे विद्युत का वर्णन किया और अब विद्युत से मेघों से वर्षा का वर्णन कर दिया है। वरुण विद्युत की उस शक्ति को कहते हैं जिससे बादलों के नीचे के द्वार खुल जाते हैं।

महर्षि स्वामी दयानन्द इस सूक्त के देवता वरुण को परमात्मा मानते हैं और उन्होंने मन्त्रार्थ परमात्मा परक किया है।

वायु, विद्युत और वर्षा का परस्पर घना सम्बन्ध है। वर्तमान विज्ञान भी यह मानता है। स्वामी दयानन्द की, ऋग्वेद का भाष्य आरम्भ करते समय यह प्रतिज्ञा कि ऋक् का अर्थ है स्तुति अर्थात् पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव जानने का यत्न; ऋग्वेद हुआ पृथिवी से लेकर परमात्मा पर्यन्त सब पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव का ज्ञान, सर्वथा सिद्ध है।

यास्क निरुक्त में देवताओं के प्रकरण का सारांश इस प्रकार कहता है—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। या० नि० ७-५

निरुक्त के अनुसार तीन ही देवता हैं। अग्निः, पृथिवी स्थान वाला। वायु वा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान वाला। सूर्य द्युः स्थान वाला। इनके महान ऐश्वर्य वाला होने से एक-एक के भी बहुत नाम होते हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ प्रथम स्थाना, मध्य स्थाना इत्यादि पद प्रयोग नहीं किये। यहाँ नवीन पदों का प्रयोग किया है। वे हैं पृथिवी और अन्तरिक्ष स्थाना। दोनों के अर्थों में अन्तर है। अतः इन पदों का किसी प्रकार से प्रथम और मध्यम स्थाना से सम्बन्ध नहीं है। प्रथम और मध्यम स्थाना से सम्बन्ध, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, सृष्टि रचना क्रम में स्थान से है, परन्तु पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु स्थान से अभिप्राय बन चुके जगत् में स्थानों से है। यहाँ पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु स्थानीय देवता, सब-के-सब, मध्य स्थाना देवता ही हैं। प्रथम स्थाना देवता तो केवल एक ही है, परमात्मा का तेज।

केवल वह ही सामर्थ्य रखता है कि प्रकृति के परमाणुओं की साम्यावस्था को भंग कर सके।

कपिल मुनि भी सांख्य दर्शन में लिखते हैं—

**निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥** सांख्य० १-८६

अर्थात्—अपने को मुक्त करने (परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होने) की वस्तुओं के सामान्य विघटन से कोई तुलना नहीं।

अभिप्राय यह कि सत्त्व, रजस्, तमस् का साम्यावस्था भंग होना एक बहुत ही महान् कार्य है। जगत् के पदार्थों का टूटना-फूटना बहुत ही सामान्य कार्य है।

यही हमारा अभिप्राय है कि सृष्टि-रचना कार्य आरम्भ करना एक अति महान् और दुस्तर कार्य है। इसको केवल परमात्मा का तेज ही कर सकता है। मध्य स्थाना देवता इस कार्य को नहीं कर सकते।

: ४ :

# तीन प्रकार की ऋचाएँ

देवताओं की विवेचना के उपरान्त यह प्रश्न उपस्थित होता है, क्या वेद के प्रत्येक मन्त्र के तीन अथवा अधिक प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं? यह माना जाता है कि वेद के तीन प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं। कुछ एक ब्राह्मण ग्रन्थों का तो यह भी मत है कि वेदार्थ याज्ञिक अर्थात् यज्ञपरक भी होते हैं।

इसमें हमारा मत है कि ऐसा नहीं है। सब ऋचाओं के सब प्रकार के अर्थ नहीं हो सकते। यास्क का भी ऐसा ही मत प्रतीत होता है।

यास्क कहता है—

**···सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्य-मिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तोस्त्रिविधा ऋचः। परोक्ष-कृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च।** या० नि० ७-१

अर्थात्—अब देवता की उपपरीक्षा (सूक्ष्म परीक्षा) है। (अभिप्राय यह है कि विषय की सूक्ष्म परीक्षा की जा रही है) जिस कामना वाला ऋषि (मन्त्र में) जिस विषय की इच्छा करता हुआ मन्त्र में स्तुति करता है, वह उस मन्त्र

का देवता होता है। उन ऋचाओं को समक्ष रखकर कहा गया है कि ऋचा तीन प्रकार की हैं। परोक्ष रूप में अर्थ प्रकट करने वाली, प्रत्यक्ष रूप से अर्थ बताने वाली और जो अध्यात्मक अर्थ प्रकट करती हैं अर्थात् जो चेतन तत्त्व के विषय में बताती हैं।

आगे कहा है—

तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते।

अर्थात्—वहाँ परोक्षकृताः में सब विभक्तियों में नाम आते हैं। परन्तु क्रिया प्रथम पुरुष (third person) में ही होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि इन मन्त्रों में देवता का वर्णन होता है परोक्ष रूप में। उदाहरण के रूप में—

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः। ऋ० १०-८९-१०

अर्थात् इन्द्र द्युलोक और पृथिवी का स्वामी है। इसमें इन्द्र स्वयं कर्त्ता नहीं। अपरोक्ष रूप में (indirectly) उसका वर्णन किया गया है।

जब देवता का वर्णन हो प्रत्यक्ष रूप में तो ऋचा प्रत्यक्षकृता कहाती है। जैसे—

त्वम् इन्द्र बलात् अधि जात। ऋ० १०-१५३-२

अर्थात्—इन्द्र, तू अपने बल से जाना जाता है।

जब देवता स्वयं अपना वर्णन करे, वे ऋचाएँ आध्यात्मिकाः कहाती हैं। उदाहरण के रूप में—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्युस्पतिरहम्। ऋ० १०-४८-१

अर्थात्—जिसमें सब जीव बस रहे हैं, मैं उनका पहला स्वामी हूँ। आगे कहा है—

अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः। अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना। नि०७-२

आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तम पुरुष (first person) में क्रिया का प्रयोग होता है। और 'अहं' इस सर्वनाम से (वर्णन होता है)।

ऋचाओं के इस विभाजन के विषय में निरुक्त में कहा है—

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः। अल्पश आध्यात्मिकाः।

अर्थात्—परोक्षकृता और प्रत्यक्षकृता ऋचाएँ बहुत हैं और आध्यात्मिकाः बहुत ही कम संख्या में हैं।

इसमें हमारा मत है कि आध्यात्मिक ऋचाए अध्यात्मपरक हैं। कहीं-कहीं परोक्षकृता और प्रत्यक्षकृता में भी अध्यात्म पक्ष देखा जाता है। जिन ऋचाओं में देवता का परोक्ष में और प्रत्यक्ष में वर्णन है, वे या तो आधिदैविक

होती हैं अथवा आधिभौतिक। कभी-कभी ही इन ऋचाओं को आध्यात्मिक माना जा सकता है।

स्वामी दयानन्द भी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में[1] इस प्रकार कहते हैं—

वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं। कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञान गोचर आत्मा और परमात्मा को। उनमें से परोक्ष अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथम पुरुष अर्थात् अपने और दूसरे के कहने वाले जो 'सो' और 'वह' आदि शब्द हैं तथा उनकी क्रियाओं में अस्ति भवति करोति पचतीत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहने वालों में मध्यम पुरुष अर्थात् 'तू' 'तुम' आदि शब्द और उनकी क्रिया में 'असि' भवसि 'करोसि' आदि प्रयोग हैं। अध्यात्म अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में उत्तम पुरुष अर्थात् 'मैं' 'हम' आदि शब्द और उनकी क्रिया अस्मि भवामि आदि आती हैं।'

इस वाक्य से भी वही अभिप्राय बनता है, जो हमने ऊपर यास्क के उद्धरण से स्पष्ट किया है।

: ५ :

## मन्त्र द्रष्टा, छन्द, स्वर तथा उदात्त अनुदात्त इत्यादि

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के विषय में यास्क कहता है—

…एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति। या० नि० ७-३

अर्थात्—इस प्रकार से ऊँचे-नीचे अभिप्रायों को लेकर ऋषियों को मन्त्र के दर्शन अर्थात् मन्त्रार्थ का ज्ञान हुआ करता है।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि ऋषियों का मंत्र निर्माण में किसी प्रकार का सहयोग नहीं। मन्त्रद्रष्टा तो केवल मन्त्रार्थं के जानने वाले होते हैं।

शौनक अपने ग्रन्थ वृहद्देवता में लिखता है—

तद्धितांस्तदभिप्रायान् [ऋषीणां मन्त्रदृष्टिषु।
विज्ञापयति विज्ञानं कर्माणि विविधानि च॥ बृह० १-३

१. सप्तम् संस्करण (अजमेर) पृ० ४००

अर्थात्—जब ऋषि को मन्त्र का आविर्भाव हुआ, वह मन्त्रद्रष्टा ऋषि मन्त्र के अभिप्राय को कह सका। वह बता सका कि मन्त्र में क्या विज्ञान की बात कही गयी है और उससे मनुष्य क्या कर्म करे।

यह अभिप्राय मन्त्र पर कहे देवता से प्रकट होता है। इससे स्पष्ट है कि मन्त्र द्रष्टा का कार्य बस इतना ही है कि वह मन्त्र के भाव को बताकर उसका देवता निश्चय करे तथा उसके सूक्तादि का निश्चय करे।

प्रत्येक मन्त्र अथवा सूक्त के आरम्भ में देवता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी लिखी रहती हैं। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त के ऊपर इस प्रकार लिखा है—

मधुच्छन्दाः ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्ज स्वरः॥

इन सबका प्रयोजन भी समझना चाहिये। इस कथन का अर्थ है कि मन्त्र का द्रष्टा ऋषि मधुच्छन्द है। इस सूक्त के सब मन्त्रों का देवता अर्थात् विषय अग्नि है; इस सूक्त में मन्त्रों का छन्द गायत्री है। इन मन्त्रों का उच्चारण षड्ज स्वर में करना चाहिये।

मन्त्र द्रष्टा ऋषि को तो केवल नमस्कार करने के लिए कहा जाता है। शौनक मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के विषय में कहता है—

मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा समाम्नायानुपूर्वशः।                बृहद्देवता १-१

अर्थात्—वेद मन्त्रों के विषय में कहने से पहले मैं इन मन्त्रद्रष्टाओं को नमस्कार करता हूँ।

ऋग्वेद १-१ का विषय अग्नि है। यही देवता के कथन का अभिप्राय है। देवता के कथन के उपरान्त कहा है कि इस सूक्त के सब मन्त्रों का छन्द गायत्री है। इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्र में लिखते समय कोई वर्ण छूट गया हो अथवा कोई वर्ण अधिक लिखा गया हो तो छन्द के कथन से इस त्रुटि का पता चल जाये।

गायत्री छन्द चौबीस वर्णों का होता है।

यह हम बता चुके हैं कि वेद मन्त्र सात मुख्य छन्दों में कहे गये हैं। ये सात छन्द इस प्रकार हैं—(१) गायत्री, (२) उष्णिक्, (३) अनुष्टुभ्, (४) बृहती, (५) विराट्, (६) त्रिष्टुभ्, (७) जगती।

इन छन्दों के प्रकारान्तर भेद भी हैं।

छन्द कथन के उपरान्त स्वर का कथन है। मुख्य स्वर सात माने गये हैं। इनके नाम हैं—षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत्, निषाद।

इन स्वरों के प्रकारान्तर भेद हैं। पहले सात के बारह भेद कहे हैं। दो

ऋषभ हैं कोमल और शुद्ध । दो गन्धार हैं, कोमल और शुद्ध । मध्यम भी दो हैं, शुद्ध और तीव्र । इसी प्रकार धैवत् और निषाद् दो-दो हैं, कोमल और शुद्ध । इन बारह के अतिरिक्त प्रत्येक की एक-एक श्रुति होती है । इस प्रकार कुल स्वर चाबीस हो जाते हैं । मन्त्रों तथा सूक्तों के ऊपर स्वर देने का अभि-प्राय यह कि जब कुछ लोग मिलकर वेद गान करने लगें तो सब एक ही स्वर में गायन करें ।

मन्त्र पदों के ऊपर नीचे खड़ी अथवा लेटी हुई रेखायें होती हैं । ये उच्चारण के स्वर को ऊँचा नीचा करने के लिए हैं । इनसे अर्थ करने में सहायता मिलती है ।

# खण्ड तीन

: १ :

## वेद

वेद के विषय में कुछ एक भ्रान्तियों के निवारणार्थ यह खण्ड लिखा जा रहा है। यह देश का दुर्भाग्य है कि संसार के ज्ञान के सर्वोत्तम भण्डार को साम्प्रदायिक, पक्षपातपूर्ण तथा राजनीतिक कारणों से भ्रष्ट करने का यत्न किया गया है और यह यत्न अब स्वयं भारतीयों द्वारा पुष्ट किया जा रहा है।

वेद का अध्ययन करने वाले के लिये इन भ्रान्तियों से सावधान रहना चाहिये। वेद अपौरुषेय हैं। अर्थात् ये किसी मनुष्य अथवा परमात्मा से भी बनाये अथवा कहे गये (रचे गये) नहीं कहे जाते। ज्ञान परमात्मा का गुण है। गुण सदा गुणी के साथ रहता है। परमात्मा अनादि है। अतः उसका ज्ञान भी अनादि है। गुण न तो गुणी से पहले होता है और न ही उसके पीछे। अतः वेद भी अनादि हैं। भाषा जो हम बोलते हैं अनादि नहीं। वह मनुष्य के उत्पन्न होने के समय बनी। इसका अर्थ यह है कि यदि किसी ग्रह पर ऐसे प्राणी रहते हैं जिनका स्वर यन्त्र किसी अन्य प्रकार का है तो वे किसी पृथक् प्रकार की भाषा बोलते होंगे और उनके वेद-ज्ञान को बोलने की बोली भी भिन्न होगी। अतः भाषा को वेद में राष्ट्री कहा है। यद्यपि इसके निर्माण में भी परमात्मा की सहायता से देवताओं द्वारा कार्य लिया गया है।

वेद के विषय में निम्न बातें सिद्ध हैं—

(१) प्रत्येक ज्ञान-ग्रन्थ की भाँति वेद को भी समझने के लिए कुछ प्रारम्भिक बातों का ज्ञान होना आवश्यक है। बिना प्रारम्भिक ज्ञान के उच्च-कोटि का ज्ञान समझ सकना सम्भव नहीं। यह ऐसे ही है जैसे एक प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी के विद्यार्थी के लिए बी० ए० अथवा एम० ए० की पुस्तकें समझना सम्भव नहीं।

(२) यह हम बता चुके हैं कि वैदिक भाषा और लौकिक संस्कृत के शब्दों में अर्थ भेद हो गया है। संस्कृत में शब्दों के रूढ़ि अर्थ माने जाते हैं। अर्थात्

प्रत्येक शब्द का एक स्थिर अर्थ होता है। वैदिक भाषा में शब्दार्थ यौगिक होते हैं। यौगिक अर्थों से अभिप्राय यह है कि किसी शब्द के सब-के-सब अर्थ, जो सदैव एक से अधिक होते हैं, धातु से निकलते हैं। धातु में भाव बताया जाता है और उस भाव को प्रकट करने वाले कई अर्थ हो सकते हैं।

उदाहरण के रूप में अश्व शब्द लिया जा सकता है। सामान्य लौकिक भाषा में अश्व का अर्थ घोड़ा है। परन्तु वैदिक भाषा में—

अश्वनामान्युतराणि षड्विंशतिः। यास्क नि० २-२७

अर्थात्—अश्व नाम हैं छब्बीस (अर्थ वाला)।

निघण्टु में अश्व के पर्याय इस प्रकार लिखे हैं : अश्व—ह्यः, अर्वा, वाजी, सप्तिः, वह्निः, दधिकाः, दधिक्रावा, एतग्वः, एतशः, पैद्वः दौर्गहः, औच्चैश्रवसः, तार्क्ष्यः, आशुः, ब्रधनः, अरुषः, मांश्चत्वः, अव्यथयः, सुपर्णाः पतङ्गाः, नरः, ह्वार्याणाम्, हंसासः, अश्वा।

अतः वैदिक भाषा में अश्व के इतने अर्थ लिए जा सकते हैं।

ये सब अश्व के नाम क्यों पड़े हैं? इस विषय में आगे कहा है—

अश्वः कस्मात्। अश्नुते अध्वानम्। महाशनो भवतीति वा।

अश्व नाम क्यों पड़ा? क्योंकि यह मार्ग को व्याप लेता है। बहुत तेजी से दौड़ता है। यह बहुत खाने वाला है। अश्व की दो धातुओं, 'अशूङ्-व्याप्तौ' अथवा 'अश-भोजने' से व्युत्पत्ति है।

(३) मानव सृष्टि के आरम्भ में राष्ट्री और वेद भाषा एक ही थी। तब ऋषियों तथा मनुष्यों के नाम इसी सांझी भाषा में से रखे जाते थे। यही कारण है कि कई मनुष्यों के नाम वैदिक भाषा में भी मिलते हैं। इसी से कभी वेदों में मानव इतिहास का भास होने लगता है। कुछ काल तक प्रचलित भाषा और वैदिक भाषा एक ही रही। व्यवहार की भाषा प्रयोग के साथ क्षरित होती जाती है। यह सब व्यवहार की वस्तुओं के साथ होता है। इस कारण समय व्यतीत होने के साथ व्यवहार की भाषा और वेद की भाषा में अन्तर पड़ने लगा।

(४) यह भी माना जाता है कि मानव सृष्टि पृथिवी पर एक ही स्थान पर हुई थी। परन्तु ज्यों-ज्यों मानव सृष्टि विस्तार पाती गयी, मनुष्य अपने जन्म स्थान से दूर स्थानों पर प्रव्रजन करते गये। इसका यह भी प्रभाव हुआ कि भाषा न केवल बदली प्रत्युत अनेक भाषाएँ बन गयीं।

यह हम आगे चलकर बतायेंगे कि भारत की भाषाएँ क्यों वेद भाषा के, अन्य देशों की भाषाओं की अपेक्षा अधिक समान रही हैं। भारतीय भाषाओं में भी

संस्कृत लौकिक वैदिक भाषा के अति समीप है।

इस पर भी दोनों में अन्तर है। और एक अन्तर हमने ऊपर बताया है। वह यह कि जहाँ लौकिक भाषा में शब्दार्थ प्राय: रूढि हैं, वहाँ वैदिक भाषा में यौगिक हैं। भाव में समान, परन्तु रूप में अनेक। यही यौगिक का अभिप्राय है।

(५) किसी देश तथा काल के ज्ञान-विज्ञान का सत्य मूल्यांकन उस देश और काल के इतिहास से हो सकता है।

उदाहरण के रूप में सांख्य दर्शन के एक सूत्र में (१-२१, २२ में) अद्वैत-वाद का समर्थन मिलता है। इससे यह पता चलता है कि ये सूत्र सांख्य-दर्शन में बाद में मिलाये गये हैं, क्योंकि सांख्य-दर्शन में अन्यत्र अद्वैतवाद का विरोध मिलता है।

इसी प्रकार यह मान्यता है कि वेद सृष्टि के आदि में कहे गये थे। इस कारण यदि किसी ऐतिहासिक पुरुष का नाम वेद में आये तो वह उस ऐतिहासिक पुरुष का नाम नहीं हो सकता। अन्यथा वेद का सृष्टि के आदि में होना नहीं कहा जा सकता।

(६) मध्य काल में भारत में विधर्मियों का राज्य स्थापित हो जाने से यहाँ के विद्वानों में वेदाध्ययन की प्रथा लोप हो गयी थी और अविद्वानों ने वेद के मनमाने अर्थ लगाने आरम्भ कर दिये थे। यही कारण है कि वेद ज्ञान को पुनर्जीवित करने के लिए सहायक ग्रन्थ बनाने पड़े। ये सहायक ग्रन्थ थे ब्राह्मण, आरण्यक, दर्शन, उपनिषद् ग्रन्थ इत्यादि। वेदार्थ समझने के लिए कुछ विवेच्य ग्रन्थ भी लिखे गये। इनमें उपवेद और पुराणादि ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। यज्ञादि के विधान भी इसी अर्थ रचे गये थे।

(७) यह बताया जा चुका है कि वेद कथन सर्वथा तर्कयुक्त है। परन्तु तर्क करने का एक विधान है। बिना उस विधान को समझे तर्क ठीक नहीं बैठता। अत: जो तर्क शास्त्र से अनभिज्ञ हैं वे वेद समझ नहीं सकते। इसके लिए न्याय-दर्शन का ज्ञान होना चाहिए। न्याय शब्द का अर्थ ही है प्रतिष्ठित तर्क। न्याय-दर्शन में तर्क करने का ढंग बताया है।

(८) मध्यकालीन कुछ एक विद्वान् यह मानने लगे थे कि सूर्य, चन्द्र इत्यादि देव ऐसे ही जीवधारी हैं जैसे मनुष्य हैं। वेद इन प्राकृत पदार्थों को दिव्य-गुण युक्त मानते हुए भी मनुष्य की भाँति जीव (जीवात्माधारी) नहीं मानते।

(९) वेदों की पवित्रता को स्थिर रखने के लिये मध्यकालीन भारतीय विद्वानों ने वेद पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार जन्म के द्विजों के लिए सीमित कर दिया। यह भूल थी। जब ज्ञान का द्वार वास्तविक विद्वानों के लिए बन्द किया जाता है

तब ज्ञान विलुप्त हो जाता है। ब्राह्मणों ने वेदों का द्वार वेद निन्दकों के लिए बन्द किया था, परन्तु जो उपाय प्रयोग किया गया, वह अशुद्ध था। इस कारण कि यह कोई गारन्टी नहीं कर सकता कि जन्म से द्विज अवश्य ही वेद समझने की योग्यता रखने वाला होगा और अद्विज के घर में उत्पन्न बालक अवश्य ही वेद-निन्दक तथा इसके समझने के अयोग्य होगा। इस भूल का परिणाम यह हुआ है कि वेद के पढ़ने-पढ़ाने तथा समझने और समझाने वाले कम होने लगे और धीरे-धीरे वेद विद्या लोप होने लगी।

: २ :

## वेद विषयक स्वामी दयानन्द का प्रयास

महर्षि स्वामी दयानन्द ने वेद सम्बन्धी विचारों को एक नया मोड़ दिया है। नये से अभिप्राय यह है कि वह दृष्टि जो मध्यकालीन विद्वानों से सर्वथा नवीन है। परन्तु जो प्राचीन विद्वानों की वेद विषयक शैली है, वह स्वामीजी भी मानते थे।

स्वामी दयानन्द ने अपने 'ऋग्वेद भाष्यम्' ग्रन्थ के आरम्भ में निम्न कथन कर अपनी धारणा तथा दष्टिकोण का उल्लेख किया है। भाष्य आरम्भ करने से पूर्व आप लिखते हैं—

···सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम्। संहितामन्त्राणाम् यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतम्, अनेनात्रानर्थो महान् जातः। तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति। यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेर्णषि मुनि महर्षि महामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितैर्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुख-लाभो भविष्यतीति विज्ञायते। —वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यम्

अर्थात्—सब मनुष्यों को वेदों के सत्यार्थ दर्शन से उन (वेदों) में अत्यन्त प्रीति होगी, ऐसा समझना चाहिए। वेद मन्त्रों का जैसा शास्त्र अथवा बुद्धि से जो सत्यार्थ प्रकाश के लिए सायणादि भाष्यकारों ने स्वेच्छानुसार, लोक प्रवृत्ति के अनुकूल और लोक प्रतिष्ठा के लिए भाष्य करके प्रसिद्ध किये हैं, वे महान् अनर्थ करने वाले हुए हैं। इन द्वारा यूरोपखण्ड के रहने वालों को भी भ्रम उत्पन्न हुआ है। जो इसमें ईश्वर अनुग्रह से ऋषि, मुनि, महर्षि, महा मुनियों द्वारा श्रेष्ठ वेद

अर्थों से युक्त एतरेय ब्राह्मणादि प्रमाणों से युक्त मेरे किये भाष्य में प्रसिद्ध हो जाने से सब मनुष्यों को महान सुख लाभ होगा, ऐसा प्रतीत होता है ।

स्वामी दयानन्द की इस प्रतिज्ञा में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं ।

(१) सब मनुष्य मात्र के लिये यह भाष्य किया जा रहा है । (२) सायणादि भाष्यकारों ने स्वेच्छा, लोक प्रसिद्धि और लोगों को प्रसन्न करने के लिए जो भाष्य किये हैं, वे घोर अनर्थ करने वाले सिद्ध हुए हैं । इस कारण युक्त अर्थ किये जा रहे हैं । उन्हीं के भाष्यों ने यूरोप भूखण्ड निवासियों में भ्रम उत्पन्न कर दिया है । (४) इस कारण ईश्वर अनुग्रह से, ऋषि, मुनि, महर्षि तथा महामुनियों के सार गर्भित अर्थों से युक्त यह भाष्य किया जा रहा है ।

इन चारों धारणाओं को महर्षि जी कितना निभा सके हैं यह यहाँ विचारणीय नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति की सामर्थ्य सीमित होती है, यह स्वामी जी की प्रतिज्ञा में दोष नहीं ।

यह निर्विवाद है कि स्वामी दयानन्द ने वेद-विषयक उनकी ओर से की गयी प्रतिज्ञा पूर्ति का अत्यन्त प्रयत्न किया था ।

तत्कालीन युरोप के उदार विचार के विद्वान् रोमां रोलां परमहंस स्वामी रामकृष्ण की जीवनी में लिखते हैं ।

…It was in truth an epoch making date for India when a Brahmin not only acknowledged that all human beings have the right to know the Vedas, whose study had been previously prohibited by orthodox Brahmins, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya.
(Romain Rolland : Life of Ramakrishna, p. 140 [Nov. 1974])

अर्थात्—वस्तुतः भारत में एक युगारम्भ का दिन था, जब एक ब्राह्मण (स्वामी दयानन्द) ने केवल यह स्वीकार ही नहीं किया कि सब मनुष्यों को वेदों के अध्ययन का, जिसे कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने वर्जित कर रखा था, अधिकार है प्रत्युत उसने इस बात पर भी बल दिया कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है और इनका पढ़ना-पढ़ाना तथा सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

उद्धृत 'वेदों का यथार्थ स्वरूप'—धर्म-देव, विद्या मार्तण्ड, पृ० ३९

अढ़ाई सहस्र वर्ष से अधिक काल के उपरान्त स्वामी दयानन्द अकेला भारतीय विद्वान् हुआ है, जो वेद को पढ़ने और अध्ययन करने का अधिकार मनुष्य मात्र के लिए देता है ।

स्वामी दयानन्द जी ने यह घोषणा स्वामी शंकराचार्य जैसे ख्याति प्राप्त विद्वानों के खण्डन में की थी । स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः । यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति । वेदश्रवण प्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य

स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूर्णम्' इति। 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च। अत एवाध्ययनप्रतिषेधः। यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यम् भवति। स कथमश्रुतमधीयीत? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अतएव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति, 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च। येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनाम् ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां' न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं; ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्।

ब्र० सू० शंकर भा० १-३-३८

इसका अर्थ इस प्रकार है--

इससे भी शूद्र का (वेदों में) अधिकार नहीं, क्योंकि स्मृति में उसके लिए श्रवण, अध्ययन और अर्थ ज्ञान का प्रतिषेध है। स्मृति में शूद्र के लिए वेद से श्रवण, वेद के अध्ययन और वेदार्थ ज्ञान एवं अनुष्ठान का निषेध है। समीप के वेदों का श्रवण करने वाले शूद्र के दोनों कान राँगा और लाख से भर दे। शूद्र चलता-फिरता श्मशान है। इस कारण उसके समीप अध्ययन नहीं करना चाहिये। वह बिना सुने कैसे अध्ययन कर सकता है! वेद के उच्चारण करने पर जिह्वाच्छेद (जिह्वा काट देने का) और शरीरोच्छेद (शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने) का विधान है। वेद ज्ञान का अभाव होने से शूद्र के लिये अर्थ ज्ञान, अनुष्ठान का निषेध अर्थ से सिद्ध होता है। ब्राह्मण को चाहिये कि शूद्र को मति ज्ञान न दे। द्विजातियों के लिये अध्ययन, यज्ञ और दान का विधान है। पूर्व जन्म के संस्कारों से युक्त विदुर, धर्म व्याध आदि के लिये प्रतिशेध नहीं। क्योंकि ज्ञान अव्यभिचारित फल वाला होता है। चारों वर्णों को सुनाये, यह इतिहास पुराण के लिये है। परन्तु वेद का शूद्र को अधिकार नहीं।

यहाँ शंकराचार्य के इस कथन का उद्धृत करने का तात्पर्य यह है कि महर्षि स्वामी दयानन्द ने वह क्या चमत्कारक कथन किया था जिसने एक बार तो भारत की पण्डित समाज के पाँव तले से भूमि निकाल दी थी। स्वामी जी वेद मानव समाज के लिये कहते थे और उन्होंने इसके लिये वेदाश्रय ही लिया था।

स्वामी जी ने अपने कथन के समर्थन में वेद मन्त्र ही उद्धृत किया था—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। यजु० २६-२॥

अर्थात्—मैं अपनी यह वाणी जन मात्र के कल्याण के लिए देता हूँ वैसे

ही तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और चौथे वर्ण शूद्र के लिये और अपने भृत्यों के लिये तथा अन्त्यजों के लिये भी दो।

इसी मन्त्र में आगे कहा है—

प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥

जैसे मैं विद्या दान करने वाले व्यक्ति तथा विद्वानों के दान प्राप्त करने पर प्रसन्न होता हूँ, वैसे तुम मनुष्य मात्र भी होवो।

इसका अभिप्राय यह कि वेद सुनाकर आप सब भी प्रसन्न होवें।

यह स्वामी जी की ऐसी घोषणा थी, जिसने न केवल शंकरादि के पाण्डित्य की जड़ें हिला दीं, वरन् इस काल के विद्वानों को भी निरुत्तर कर दिया।

स्वामी जी की दूसरी घोषणा यह थी कि सायणादि ने मनमाने तथा लोगों में ख्याति प्राप्त करने के लिये भाष्य किये हैं।

इसका प्रमाण तो पग-पग पर मिलता है। मन्त्रों के भाव में अन्तर हो सकता है परन्तु मन्त्रार्थ देवता के साथ सम्बद्ध रहने चाहियें। सायणादि के अयुक्त अर्थ करने से यूरोपीय विद्वानों को भी भ्रान्ति हुई है और इससे महान् अनर्थ सम्पन्न हुआ है।

महर्षि स्वामी दयानन्द के भाष्य की शैली से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) वेद के शब्दों और पदों के अर्थ यौगिक हैं। रूढ़ि अर्थ अशुद्ध हैं।

(२) वेदार्थ करने में निरुक्त सर्वाधिक सहायक होता है।

(३) लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत में अन्तर है। इसमें व्याकरण की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि का महाभाष्य सहायक होते हैं।

(४) वेदार्थ समझने में देवता जो मन्त्र, मन्त्रांश तथा सूक्त के ऊपर दिये रहते हैं, सहायक होते हैं। देवता को ही प्रकरण कहते हैं।

(५) वेद वाक्य परस्पर विरोधी नहीं हैं।

(६) वेदार्थ तर्कसंगत हैं।

(७) वेद में मानव इतिहास नहीं। सृष्टि रचना का इतिहास तो है, परन्तु इसमें मानवों का इतिहास नहीं। वेद में सृष्टि रचना का इतिहास इस कारण है क्योंकि सृष्टि रचना तो क्रमानुसार होती है। जब जब भी और जहाँ-जहाँ भी सृष्टि रचना होती है, वह समान रूप में ही होती है। इसलिये उसमें नवीनता कुछ भी नहीं होती; परन्तु मानव कर्म करने में स्वतन्त्र है और इसके कर्मों के विषय में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। अतः सृष्टि के आदि में

प्रकट हुए वेद में मानव इतिहास नहीं हो सकता।

(८) वेद पाठ में स्वामी जी ने प्रायः देवता का अर्थ विद्वान् पुरुष किया है। मनुष्य स्वयं देवता है, इस कारण इसमें बाधा शब्दार्थ की नहीं, वरन् भाव की है।

वैसे स्वामी जी ने देवता से दिव्य गुण युक्त पदार्थों का भी अर्थ लिया है।

स्वामी जी से अनेक विषयों में मतभेद रखते हुए भी अनेक अन्य विद्वानों ने स्वामी जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उदाहरण के रूप में योगिराज अरविन्द ने महर्षि स्वामी दयानन्द जी के भाष्य के विषय में लिखते हुए कहा है—

There is nothing fantastic in Dayananda's idea that Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains the other truths of a science the modern world does not at all possess and in that case Dayananda has rather understated than overstated the depth and range of the Vedic wisdom...If as Dayananda held on strong grounds, the Veda reveals to us God, reveals to us the relation of the soul to God and nature, what is it but a revelation of Divine Truth. And if, as Dayananda held, it reveals them to us with a perfect truth, flawlessly he might well hold it for an infallable Scripture...in the matter of Vedic interpretation Dayananda will be honoured, as the first discoverer of the right clues. Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and age long misunderstanding, his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on to that which was essential. He has found the keys of the doors that time had closed and rent as under the seals of the imprisoned fountains.

Aurobindo in 'Dayananda And Veda' published in Vedic Magazine, Lahore, Nov. 1916 Qtd.) by पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, in वेदों का यथार्थ स्वरूप, पृ० ४१

(दयानन्द की इस मान्यता में कि वेदों में विज्ञान की सच्चाइयाँ हैं और वैदिक धर्म की भी हैं, कुछ भी अनहोनी बात नहीं है। मैं इसमें यह और कहूँगा कि वेदों में दूसरी सच्चाइयाँ भी हैं जिन्हें वर्तमान युग का वैज्ञानिक नहीं जान पाया और इस विषय में दयानन्द ने कुछ अधिक के स्थान कम ही कहा है कि वैदिक ज्ञान की सीमा कहाँ तक है।—यदि जो कुछ दयानन्द ने कहा है, उसका प्रबल प्रमाण उपस्थित है, जिनसे यह प्रकट होता है कि वेद परमात्मा के अस्तित्व

को प्रकट करता है, यह परमात्मा जीवात्मा और प्रकृति के विषय के रहस्योद्घाटन भी करता है, यह एक इल्हाम (ईश्वरीय ज्ञान) का प्रकाश ही है। यह जो स्वामी दयानन्द प्रकट करता है और घोषित करता है, पूर्ण सच्चाई है और यह दोषरहित निर्भ्रान्त ईश्वरीय कथन है—स्वामी जी के वेदों का भावार्थ। मैं इस प्रकार मान गया हूँ कि अन्तिम विवेचना कुछ भी हो, दयानन्द का इस कारण मान किया जायेगा कि वह पहला व्यक्ति है जिसने वेदार्थ का सही सूत्र पता किया है। अव्यवस्था और पुराने अज्ञान के कारण अस्पष्टता और शताब्दियों की भूल के उपरान्त, उसकी ही दृष्टि थी जो सच्चाई तक पहुँच सकी, जिस तक पहुँचना अनिवार्य था। काल से बन्द हुए द्वार की कुंजी मिल गयी है और उसने उन द्वारों को खोल दिया है और ज्ञान के स्रोत को बाहर ले आया है।)

अरविन्द जी के वक्तव्य को यहाँ इस कारण दिया गया है क्योंकि योगिराज से बहुत ही कम योग्यता के हिन्दुस्तानी अपने यूरोपियन आकाओं के टुकड़े खाते हुए वेदों की निन्दा में बहुत-कुछ कह गये हैं।

उदाहरण के रूप में भारत में भारतीय विद्या भवन नाम का एक संस्थान् है। इस संस्थान् ने 'वैदिक-एज' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की है। इस पुस्तक के मुख्य सम्पादक श्री रमेशचन्द्र मजूमदार हैं। इस पुस्तक में वेदों की प्राचीनता के विषय में लिखा है—

On linguistic grounds the language of the Rig Veda, oldest Veda, may be said to be about 1000 B. C. (Vedic Age p. 225)

अर्थात्—"शुद्ध भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो ऋग्वेद, जो प्राचीनतम वेद है, १००० वर्ष ईसा पूर्व का कहा जा सकता है।

श्री मजूमदार इतिहास के अध्यापक रहे हैं। इनको इतना विदित होना चाहिये कि बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया थी और ब्राह्मण धर्म वैदिक धर्म का विकृत रूप मात्र था। इस गणना से वेदों का आविर्भाव इससे कई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ मानना पड़ेगा।

वास्तव में श्री मजूमदार मैक्समूलर इत्यादि अनभिज्ञ यूरोपियनों से कही बात दुहरा रहे हैं।

'वैदिक एज' का कथन बच्चों की कल्पना मात्र है। भारतीय इतिहास यह है कि महाभारत का काल ईसा से तीन सहस्र वर्ष पूर्व है। उस समय देश में वेद का प्रचार था। महाभारत के मुख्य पात्र युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था। महाभारत से बहुत पहले वेद व्यास ने ब्रह्म सूत्र लिखे थे और उपनिषद्

ग्रन्थ उससे पहले कहे गये थे। यह स्पष्ट है कि उपनिषद् ग्रन्थों से पहले ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। यह माना जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की प्रथा के उपरान्त लिखे गये। इस विषय पर अर्थात् काल-गणना के विषय में एक संक्षिप्त विवरण आगे चलकर देंगे। यहाँ इतना बताने से ही अभिप्राय है कि 'वैदिक एज' के लेखक को यह चाहिये था कि भारतीय इतिहास में काल के विचार का खण्डन करता। तब ही वेदों के काल को वह ईसा के आर-पार लिख सकता था।

: ३ :

# वेदों की प्राचीनता के विषय में भारतीय मत

पूर्व इसके कि वेद के काल के विषय में लिखें, हम पाश्चात्य मत से मनुष्य के भूतल पर उद्‌भव के विषय में अति संक्षेप से लिख देना चाहते हैं। भारतीय मतानुरूप मनुष्य के उत्पन्न होने का वेद के आविर्भाव से घना सम्बन्ध है। इस कारण यह बताना ठीक ही होगा कि पाश्चात्य विद्वान् मनुष्य को पृथिवी पर कितना पुराना मानते हैं।

भू-विज्ञान (geology) वेत्ता भूतकाल में एक सिनोज़ोइक (cenozoic) युग मानते हैं। कहते हैं वह युग आज से ७०,००० वर्ष पहले आरम्भ हुआ था और अभी चल रहा है। इस युग के वर्तमान विभाग को क्वार्टनरी काल कहते हैं। वह आज से २१,००० वर्ष पहले से आरम्भ हुआ माना जाता है। यह विभाग आज तक चल रहा है। यह माना जाता है कि इस युग के इस विभाग में मनुष्य की उत्पत्ति हुई है।

इसका अनुमान किस प्रकार लगाया गया है, इसके लिये पढ़िये 'ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' खण्ड १०, पृष्ठ १७३; संस्करण १९६७।

इस क्वार्टनरी काल में ही बर्फ-युग (ice-age) आया था। इसमें कहा जाता है कि पूर्ण उत्तरी यूरोप बर्फ से दब गया था। यह बर्फ-युग पूर्ण उत्तरी गोलार्द्ध पर आया था। एशिया में और कनाडा तथा उत्तरी संयुक्त राज्य अमेरिका पर इसका प्रभाव हुआ था।[1]

इस बर्फ-युग का कारण यह प्रतीत होता है कि पृथिवी की एक गति है जो छब्बीस हजार वर्ष में पूर्ण होती है। इसमें पृथिवी का उत्तरी ध्रुव ऐसे डोलता है जैसे वेग से घूम रहा लट्टू डोलता है। इस डोलने में उत्तरी ध्रुव

१. इस कथन का खंडन लेखक ने अपनी रचना विज्ञान और विज्ञान (पृ० ९५-९६) में किया है।

२६,००० वर्षों में एक बार सूर्य की ओर झुक जाता है। और फिर एक बार सूर्य से दूर हो जाता है। जब दूर हो जाता है तब इस गोलार्द्ध पर बर्फ जम जाती है। इस गति से भी यह प्रतीत होता है कि आज से लगभग २१,००० वर्ष पूर्व उत्तरी ध्रुव सूर्य से दूरतम था।

ऐसा प्रतीत होता है कि एशिया में हिमपात हिमालय तक अथवा कश्मीर इत्यादि तक हुआ होगा। युरोप में भी हिमपात के लक्षण भू-मध्य सागर से नीचे दिखाई नहीं देते।

मनुष्य के कंकाल जिनसे प्राचीन मनुष्य की उपस्थिति का अनुमान लगाया जाता है, इस हिमपात में दबे हुओं के ही हो सकते हैं। क्योंकि हिम युग एक दम नहीं होता, यह एक दो वर्ष में नहीं आया होगा; सम्भवतः वर्ष-वर्ष में बढ़ता हुआ शीत कुछ हजार वर्षों में यौवन पर आया होगा। इस कारण सब मनुष्य बढ़ते हुए शीत को देख दक्षिण की ओर प्रव्रजन कर गये होंगे और उन के कंकाल बर्फ में नहीं मिले। ये कंकाल किसी ऐसे जन्तु के होंगे जो मनुष्य से मिलता जुलता होगा, परन्तु उससे बहुत कम बुद्धिमान रहा होगा। तभी वह प्रवजन न कर बर्फ में दब गया होगा।

निष्कर्ष यह है कि किसी मनुष्य का कंकाल नहीं मिला। जो भी मिले हैं वह किसी मनुष्येतर जन्तु के हैं।

महाभारत के प्रमाण से यह पता चलता है कि महाभारत काल में उत्तरी ध्रुव पर लोग रहते थे और वहाँ बारह महीने कनेर फूलती थी। अभिप्राय यह कि उत्तरी गोलार्ध पर अब बर्फ-युग आ रहा है। हम बर्फ युग की ओर पाँच अथवा छः हज़ार वर्ष खिसक चुके हैं।

इससे यह कहा जा सकता है कि युरुप वालों के, भूगर्भ की तहें देख कर लगाये अनुमान विश्वास योग्य नहीं हैं।

भारतीय विद्वान काल-गणना युग-गणना से करते हैं। युग-गणना पृथिवी की गतियों को देख कर ही निश्चय की गयी है। इसमें वेद का यह प्रमाण है कि मनुष्य की उत्पत्ति उत्तरी ध्रुव के दक्षिण की ओर किसी सुरक्षित स्थान पर हुई थी। इस विषय में मन्त्र इस प्रकार है—

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गभरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥८॥
युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद वत्सो अनु गाम पश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥९॥

मन्त्रों का पदार्थ इस प्रकार है—

माता=जन्म देने वाली। पितरम्=पिता को। ऋते=अनादि नियमानुसार। आ बभाज=चारों ओर से प्राप्त करती है। धीति=धारण करती है। अग्रे=आदि काल में। मनसा=चित्त शक्ति से। हि=निश्चय से। संजग्मे=संयोग करती है।

सा=वह। बीभत्सु=संयोग की इच्छा से। गर्भरसा=गर्भ में धारण योग्य। निविद्धा=बँधी हुई। नमस्वन्तः=प्रशंसा के योग्य। इत्=इस। उपवाकम्=उपवाणी अर्थात उच्चारण मात्र। ईयुः=प्राप्त हुए।

युक्ता=जुड़ी हुई अर्थात् सम्बद्ध हुई। माता=पृथिवी। आसीत्=थी। धुरि=ध्रुव में। दक्षिणायाः=दक्षिण में। अतिष्ठत्। स्थित था। गर्भः=गर्भ। वृजनीषु=वर्जनीय स्थान में अथवा सुरक्षित स्थान में। अन्तः=भीतर।

अमीमेत्=प्रक्षेप होता है। वत्सः=पुत्र। अनुगाम=पीछे जाता हुआ। अपश्यत्=देखता है। विश्वरूपम्=समस्त रूपों को। त्रिषु=तीन में। योजनेषु=बन्धनों में। ऋ० १-१६४-८, ६।

यहाँ माता से अभिप्राय पृथिवी है और पिता से सूर्य है। कहा है कि पृथ्वी सूर्य को अनादि नियमानुसार चारों ओर से प्राप्त करती है और गर्भ से निवद्ध हो जाती है। गर्भ में धारण करने योग्य मनुष्य उत्पन्न हुए और बोलने लगे।

मन्त्र में सृष्टि के आदि काल का वर्णन है। पूर्व (ऋ० १-१६४-७) मन्त्र में प्रश्न पूछा गया है—"इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।" अर्थात् हे प्रिय, वह सुन्दर काया जानने वाले का पहले कहाँ हुआ?

मनुष्य का सुन्दर शरीर पहले कहाँ बना? इसके उत्तर में ही यह मन्त्र (ऋ० १-१६४-८) है।

आगे कहा है—धुरि अर्थात् ध्रुव के दक्षिण में पृथिवी ने एक सुरक्षित स्थान पर गर्भ धारण किया और सुती अर्थात् जीवात्माओं की वर्षा हुई और सृष्टि हो गयी। तब समस्त रूपों में सृष्टि हुई और प्राणी तीन बन्धनों में बँधा हुआ आया। ये तीन रूप थे जीवात्मा के पूर्व कल्प के कर्म फल, शरीर और प्राण।

इसी सम्बन्ध में तीसरा मन्त्र है—

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवोः अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥
ऋ० १-१६४-१०

अर्थात्—

तिस्रः=तीन। मातृः=माताओं। त्रीन्=तीन। पितृ=पिताओं

की। बिभ्रत=धारण करता हुआ। एक:=एक। ऊर्ध्व:=ऊपर। तस्थौ= स्थित हुआ। न-ईम्=अब नहीं। अवग्लापयन्ति=विचलित होते हैं अर्थात् पृथक् होते हैं।

मन्त्रयन्ते दिव:—सूर्य के (उच्चारित) मन्त्र समझने वाले। अमुष्य पृष्ठे=दूर (पृथिवी की) पीठ पर स्थित। विश्व विदम् वाचम्—सब को विदित होने वाली वाणी। अविश्वमिन्वाम्--जो सब को ज्ञात नहीं होती।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्राणी की तीन माताएँ और तीन पिता हैं। इस का अर्थ है कि प्राणी में तीन अंश माता से आते हैं और तीन अंश पिता से। माता की ओर से आने वाले अंश हैं (पृथिवी, जल और वायु) (पाँच भौतिक) और सूर्य की ओर से आने वाले अंश हैं अग्नि, आकाश (पाँच भौतिक) और प्राण।

इन मन्त्रों का भावार्थ यह है कि मनुष्य की प्रथम सृष्टि उत्तरी ध्रुव के समीप, उसके दक्षिण में किसी सुरक्षित स्थान पर हुई।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि पृथिवी की तीसरी गति से उत्तरी ध्रुव पर (२६,००० वर्ष में एक बार) मानव निवास योग्य उष्मा हुई तो वहाँ प्राणी तदनन्तर मानव सृष्टि हो गयी।

मानव सृष्टि कब हुई? महाभारत के प्रमाण से ऐसा समझ में आता है कि वर्तमान मन्वन्तर में हुई।

महाभारत में ब्रह्मा परमात्मा को सम्बोधन कर कहता बताया गया है—

इदं च सप्तमं जन्म पद्म जन्मेति वै प्रभो।
सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जित॥

महाभा० १२-३४७-४३

और पद्म पर जन्म के विषय में महाभारत इस प्रकार कहता है—

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा।
तस्मात् पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधि:॥
मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते॥
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रित:।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगत: प्रभु:॥

महा० १२-१८२-१५,३७,३८

महाभारत के श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है—

उस के बाद स्वयम्भूं (परमात्मा) ने एक तेजोमय दिव्य कमल उत्पन्न किया। उसी कमल से वेद निधि रूप ब्रह्मा प्रकट हुए ॥१५॥

मानव देव का जो स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्म रूप प्रकट हुआ था। उन्हीं ब्रह्मा जी के आसन के लिये इस पृथिवी को ही पद्म कहते हैं।।३७।।

इस कमल की कर्णिका मेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) है, जो आकाश में बहुत ऊँचे तक गया है। उसी पर्वत के मध्य भाग में स्थित होकर जगत् प्रभु सब लोकों की सृष्टि करता है।

महाभारत से वेद के कथन का समर्थन होता है कि मानव सृष्टि उत्तरी ध्रुव के दक्षिण में हुई और किसी सुरक्षित स्थान पर हुई। इसका अभिप्राय है कि वह स्थान जल की पहुँच से ऊपर था।

ध्रुव प्रदेश का जलवायु मानव अनुकूल रहा होगा, तभी तो वहाँ कोई सुरक्षित स्थान मिल सका होगा।

हमने कहा है कि यह सातवें मन्वन्तर में हुआ। इस कारण मन्वन्तर का अर्थ भी समझ लिया जाये तो ठीक होगा।

## सृष्टि रचना काल

अथर्व वेद में दशम काण्ड का सातवां सूक्त स्कम्भ सूक्त कहाता है। सकम्भ का अर्थ इसी सूक्त में बताया गया है। यूं तो कोष में स्कम्भ को स्तम्भ का पर्यायवाचक माना है, परन्तु इस शब्द का निर्वचन वेद स्वयं इस प्रकार करता है—

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

अथर्व वेद १०-७-११,१२

इन वेद मन्त्रों का अर्थ है—

यत्र=जहाँ। तपः=तप। पराक्रम्य व्रतं धारयति उत्तरम्=और पराक्रम करके उत्तर व्रत धारण करता है (इस का अभिप्राय है कि जहाँ परमात्मा ने परिश्रम अर्थात् तप किया) च आपः=और अहंकारों। समाहिताः=सब एकत्रित है। ब्रह्म=वेदों को प्राविर्भाव हुआ है। यत्र ऋतं च श्रद्धा=और जहाँ अनादि नियम और उन पर आचरण हुआ। तं स्कम्भं ब्रूहि=उस को स्कम्भ कहो। कतमः स्वित् एव सः= वह (दिव्य गुण युक्त) कौन है? ॥११॥

यस्मिन्=जिसमें। भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः अधिआहिता=भूमि (पार्थव पदार्थ) अन्तरिक्ष और प्रकाशमान पदार्थ। वातः=संगठित करने वाली शक्ति। प्रतिष्ठित हैं। तम् आर्पिता स्कम्भं ब्रूहि। उस को स्थापित करते हुए। कतमः स्वित् एव सः=निश्चय करो वह कौन सा है ॥१२॥

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि स्कम्भ का अभिप्राय कल्प है। इसे ब्रह्म दिन भी कहते हैं।

इस स्कम्भ में यह भी कहा है—

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र॥

अ० वे० १०-७-९

अर्थात्—

कियता भूतम्=कहाँ तक भूतकाल में। स्कम्भः प्र विवेश=ब्रह्म दिन (कल्प) फैला हुआ था। अस्य भविष्यत् कियत् अन्वाशये=इसका भविष्य कहाँ तक फैला हुआ है।

एकं यत् अङ्गम् अकृणोत्=जो एक अंग कर के (विचार करें)। प्र विवेष तत्र स्कम्भः सहस्रधा=वहाँ स्कम्भ (ब्रह्म दिन) सहस्र प्रकार (भागों) में है।

अभिप्राय यह है कि (पहले दो मन्त्रों में से स्कम्भ के लक्षण किये हैं) स्कम्भ अर्थात ब्रह्म दिन कब आरम्भ हुआ था और कब तक चलेगा। यदि भूत भविष्य के काल को एक कर विचार किया जाये तो इसमें एह सहस्र भाग हों सकते हैं।

एक ब्रह्म दिन में एक सहस्र चतुर्युगियाँ मानी गयी हैं। यह वेद में ज्योतिष शास्त्र का बीज है। ज्योतिष शास्त्र के विख्यात ग्रन्थ सूर्य-सिद्धान्त में कल्प की गणना इस प्रकार की गयी है।

यह कहा है कि सृष्टि-रचना और प्रलय एक दूसरे के उपरान्त निरन्तर चलते रहते हैं। जितना काल रचना रहती है, उतने काल तक ही लय-अवस्था रहती है। रचना-काल को ब्रह्म दिन कहते हैं और लय-काल को ब्रह्म रात्रि कहते हैं।

ब्रह्म दिन-रात का एक चक्र ८,६४,००,००,००० वर्ष का होता है। इसमें ४,३२,००,००,००० वर्ष ब्रह्म दिन के और इतने ही वर्ष ब्रह्म रात्रि के होते हैं। वेद में कहे अनुसार ब्रह्म दिन अर्थात् ४,३२,००,००,००० वर्ष को एक सहस्र भाग में बांटा जाय तो एक भाग में ४३,२०,००० वर्ष होंगे। इसे

चतुर्युगी अथवा देव वर्ष कहते हैं ।

एक चतुर्युगी में चार युग होते हैं । सत्युग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलि युग । इनके काल की गणना ४ : ३ : २ : १ के अनुपात में होती है । इस प्रकार

| | | |
|---|---|---|
| सत्युग होगा | = | १७,२८,००० वर्ष |
| त्रेता युग | = | १२,९६,००० ,, |
| द्वापर युग | = | ८,६४,००० ,, |
| कलि युग | = | ४,३२,००० ,, |
| एक चतुर्युगी | = | ४३,२०,००० |




ब्रह्म दिन बराबर होगा ४,३२,००,००,००० वर्ष=१४ मन्वन्तर ।

अतः एक मन्वन्तर=४,३२,००,००,०००÷१४=७३.४२८ चतुर्युगियाँ=३०,८५,७१,४२८ वर्ष

यह माना जाता है कि सृष्टि आरम्भ हुए ६ मन्वन्तर व्यतीत हो चुके है और सातवें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियां व्यतीत हो चुकी हैं । साथ ही २८वीं चतुर्युगी का सत्युग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलि युग के ५,०८१ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं ।

यह सब गणना नक्षत्रों की गतियां देखकर पता की गयी हैं । अब प्रश्न यह रह जाता है कि जगत् में क्या क्या और कब कब बना ?

हम बता चुके हैं कि महाभारत में मन्वन्तरों के नाम दिये गये हैं । उनके नाम उस मन्वन्तर विशेष में रचना-विशेष का संकेत करते हैं । उदाहरण के रूप में यह कहा है कि प्रथम मन्वन्तर स्वयम्भू अथवा स्वरोचिष है । इसका अभिप्राय है कि इस मन्वन्तर में स्वयम्भू (परमात्मा) ने रचना कार्य किया । महाभारत में लिखा है कि इस मन्वन्तर के आरम्भ में रचना परमात्मा के मन से ही हुई थी । यह वेद में भी कहा है । वहाँ इस प्रकार इसका वर्णन है —

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

ऋ० १०-१२९-४

अर्थात्—सब से पहले (परमात्मा के) मन से उत्पन्न होने वाली कामना उत्पन्न हुई । वह सर्वत्र विद्यमान थी ।

इसी प्रकार महाभारत में दूसरे मन्वन्तर के विषय में कहा है कि यह मन्वन्तर परमात्मा के नेत्र से उत्पन्न हुआ । मनुस्मृति में इसका नाम 'उत्तम' कहा है । इसका अभिप्राय यह है कि इस काल में हिरण्यगर्भ प्रकाशमान् हो गया था । परमाणुओं से महत् और महत् से अहंकार उत्पन्न हो चुके थे और

अग्नि तथा वायु उत्पन्न हो हिरण्यगर्भ को प्रकाशित कर रहे थे।

इसी प्रकार मनुओं (मन्वन्तरों) के नाम से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उस काल में रचना किस स्तर पर पहुँच चुकी थी।

इन्हीं मन्वन्तरों के नाम से हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि वेद-छन्द (तरंगों के रूप में) कब उच्चारण होने लगे थे। यह तीसरे मन्वन्तर में था। इस मन्वन्तर का नाम महाभारत में "वाचक" लिखा है और मनुस्मृति में इसे रैवत कहा है। रैवत का अर्थ है साम गान। अर्थात जो ग्रह बन चुके थे, वे छन्दोच्चारण करने लगे थे। यह उच्चारण, जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, तरंगों के रूप में हो रहा था।

सातवें अर्थात् वर्तमान मन्वन्तर का नाम है वैवस्वत। वैवस्वत का अर्थ है सूर्यदत्त। विवस्वान सूर्य को कहते हैं और प्राणी, वेदानुसार, जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, सूर्य के पुत्र हैं। इससे यह अनुमान लगाना अशुद्ध नहीं होगा कि प्राणी सृष्टि वर्तमान मन्वन्तर में हुई है।

प्राणी सृष्टि में सबसे पहले वनस्पतियाँ उत्पन्न हुयीं, फिर कीट पतंग इत्यादि। तदनन्तर पशु-पक्षी और अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए। हमारा अनुमान है कि मनुष्य वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में उत्पन्न हुए। जब मानव-सृष्टि हुई तो जो उनमें पूर्व कल्प के पुण्यकर्मा और विद्वान थे, उन्होंने तरंग रूप में आते हुए छन्दों को समझा और फिर सामान्य मनुष्यों के हितार्थ तत्कालीन राष्ट्री (जन की) भाषा में कहा।

इस पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सूर्य के अन्य ग्रहों पर मानव सृष्टि है अथवा नहीं। आज कल अन्तरिक्ष यान छोड़े जा रहे हैं, जिससे पता चल सके कि वहाँ पर मानव सृष्टि है अथवा नहीं? हमारा अनुमान है कि उन सब नक्षत्रों पर जिनका अन्तर, पृथिवी के सूर्य से अन्तर से, अधिक है, वहाँ सृष्टि अब नहीं। वहाँ उष्मा पृथिवी से कम हो चुकी है। किसी समय जब सूर्य वर्तमान से अधिक गर्म था, तब वहाँ उष्मा आजकल से अधिक रही होगी। जब वहाँ उष्मा ऐसी रही होगी जैसी आज कल पृथिवी पर है, तब वहाँ भी ऐसी सृष्टि रही होगी।

हम समझते हैं कि मंगल ग्रह पर भी सृष्टि नहीं रही। वह भी पृथिवी के अनुपात में सूर्य से अधिक अन्तर पर है और वहाँ पर भी अब सूर्य का वह प्रभाव नहीं रहा जो आजकल पृथिवी पर है।

ऐसा अनुमान है कि जब सूर्य और ठंडा हो जायेगा तब पहले शुक्र पर प्राणी-रचना होगी। अभी वहाँ का जलवायु प्राणी सृष्टि के अनुकूल नहीं। यह

माना जाता है कि शुक्र की भूमि का तापक्रम लगभग एक सौ दर्जा सेन्टीग्रेड है। इस तापक्रम पर प्राणी सृष्टि असम्भव है। न वहाँ जल तरलावस्था में रह सकता है, न ही वायु में नाइट्रोजन से कार्बन बन सकती है।

बुद्ध ग्रह तो सूर्य के और भी समीप है। वहाँ तापक्रम लगभग ५८० दर्जा है। जब शुक्र और बुद्ध पर जलवायु प्राणी के रहने के योग्य होगा, तब पृथिवी पर प्राणी सृष्टि नहीं रहेगी। कारण यह कि तब तक सूर्य इतना ठंडा हो चुका होगा कि पृथिवी पर बर्फ जम रही होगी और कदाचित् तब जल बर्फ के रूप में भी नहीं होगा। यदि इस विषय में किसी प्रकार की भविष्यवाणी की जाये तो यह आज से तीन चार मन्वन्तर उपरान्त होगा।

हमने यह बताया है कि मानव-सृष्टि इस पृथिवी पर वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। इसे भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार आज चालीस लाख वर्ष से ऊपर हो चुके हैं।

वर्तमान चतुर्युगी में एक महान् विनाशकारी घटना हो चुकी है। यह कहा जाता है कि पूर्ण पृथिवी, एक बार जल में डूब गयी थी। इसे महाजल-प्लावन कहते हैं।

इस जल-प्लावन को उस जल-प्लावन से ग़लत-मलत नहीं करना चाहिये जो प्राणी सृष्टि से पहले पृथिवी पर हुआ था। यह कहा जाता है वर्तमान (वैवस्वत) मन्वन्तर में वर्तमान चतुर्युगी के पूर्व पृथिवी पर जल-प्लावन हुआ था और उस समय जब पृथिवी जल से कमल समान निकलने लगी तो उस पर ब्रह्मा (परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति) से प्राणी सृष्टि हुई।

परन्तु जिस प्लावन का हम इस समय उल्लेख कर रहे हैं, वह मानव सृष्टि होने के बहुत काल व्यतीत हो जाने पर हुआ था। इस प्लावन का उल्लेख भारतीय शास्त्रों में तो मिलता ही है साथ ही अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी (मिश्री, यहूदी, बाबल जातियों के प्राचीन ग्रन्थों में) पाया जाता है।

जिस घटना का इस प्रकार भूमण्डल के अनेकों ग्रन्थ में वर्णन मिलता हो वह कितनी बड़ी दुर्घटना रही होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

पण्डित भगवद्दत्त जी ने अपनी रचना 'भारतवर्ष का इतिहास' के प्रथम भाग के पृष्ठ २०४ पर लिखा है और वहाँ अनेक देशों के प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि यह घटना सत्य ही घटित हुई है।

एक भूल पण्डित भगवद्दत्त जी ने की है। वह यह कि उन्होंने इस जल-प्लावन को प्राणी सृष्टि से पूर्व होने वाले प्लावन से ग़लत-मलत किया है। भारतीय शास्त्रों में और दूसरे देशों के ग्रन्थों में भी यह स्पष्ट बताया है कि

यह प्लावन मानव सृष्टि हो जाने के एक युग उपरान्त हुआ। महाभारत में इस विषय में लिखा है—

आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वान्जगृहे ततः॥
त्रेतायुगादौ च पुर्नविवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोक भूत्यर्ष सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥

महाभा० पूना० सं० १२-३३६-४६-४७

अर्थ हैं—आदित्य के वंशज विवस्वान के परिवार में त्रेता युग के आरम्भ में विवस्वान मनु उत्पन्न हुआ और उसने पुनः मनुष्य समाज उत्पन्न किया और इक्ष्वाकु को जन्म दिया।

यहाँ इस बात का संकेत है कि मनु, जो प्लावन में बचा था और जिसने पुनः मानव सृष्टि उत्पन्न की थी, वह त्रेता युग के आरम्भ में हुआ था।

इस तथा भूमण्डल के प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख से यह सिद्ध है कि प्लावन हुआ था। मानव सृष्टि का काल वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ में समझा जाये अथवा वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में समझा जाये, इसमें मतभेद हो सकता है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि त्रेता युग के आरम्भ में जहाँ मानव-सृष्टि पुनः की गयी वहाँ वेदों का प्रचार भी पुनः किया गया।

महाभारत में एक अन्य स्थान पर स्पष्ट कहा है—

इक्ष्वाकुणा व कथितो व्यापय लौकानवस्थितेः।

महाभा० (पूणा० संस्क०) १२-३३६-४८

अर्थ है—

इक्ष्वाकुणा के उपदेश से वेद धर्म का पुनः व्यापक प्रचार हो गया।

यह इतिहास हो गया कि त्रेता युग के आरम्भ में भी वेदों का पुनः प्रचार किया गया था। सतयुग और त्रेता युग की संधि ज्योतिष शास्त्रानुसार आज से १९ लाख वर्ष पूर्व हुई थी।

जल-प्लावन से पूर्व का इतिहास तो प्लावन पूर्व के बचे लोगों के कथनों से ही किंवदन्तियों के रूप में ज्ञात है, परन्तु उसके उत्तर काल का इतिहास पुराणों में पर्याप्त स्पष्ट रूप में और व्याख्या से मिलता है।

प० भगवद्दत्त अपने 'भारतवर्ष के इतिहास' (प्रथम भाग द्वितीय संस्करण पृ० १५८) में लिखते हैं—

वायु पुराण में २४ त्रेता और २८ द्वापर माने गये हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि त्रेता युग के चौबीस भाग किये गये हैं और प्रत्येक का किसी मुख्य महापुरुष के नाम पर नामकरण किया गया है। चौबीसवें

भाग का नाम राम पर है। इसी प्रकार द्वापर का है। इतने पुराने काल का इतना विस्तार से इतिहास ग्रन्थ किसी देश का नहीं मिलता।

जहाँ यह बात भारतवर्ष के विद्वानों का गुण माना जाना चाहिये, वहाँ मिथ्या कहकर इसकी निन्दा करना अज्ञानता की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है। द्वापर का विवरण अधिक स्पष्ट है। यह इस कारण कि अपेक्षा से द्वापर का काल आज के अधिक समीप है। ऐसा होना भी चाहिये।

लाखों वर्ष के इतिहास को इससे अधिक व्याख्या में सुरक्षित रखना न केवल असम्भव था वरन् व्यर्थ भी होता। विशेष रूप में जब मुद्रण कला का प्रचार नहीं था।

महाभारत के अन्त के काल का विवरण तो महाभारत ग्रन्थ में अधिक व्याख्या से मिलता है। इसके लिये महाभारत पढ़ना चाहिए।

कलि युग के आरम्भ से तो इतिहास का वर्णन और भी अधिक विस्तृत रूप में उपलब्ध है। मगध और पंजाब के राजाओं के राजस्व काल का स्पष्ट विवरण मिलता है। मगध राजवंशावलियों का विवरण गीता प्रेस गोरखपुर से छपे महाभारत के परिशिष्टांक में दिया गया है। नीचे हम संक्षेप में उसे दे रहे हैं।

मगध का राजा सहदेव जो जरासंध का पुत्र था, महाभारत के युद्ध में मारा गया था। उसके पुत्र जयद्रथ से वंशावली आरम्भ होती है। तदनन्तर प्रद्योत वंश सत्तारूढ़ हुआ। वंशावली इस प्रकार है—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| जयद्रथ वंश ने | १००१ वर्ष तक राज्य किया। | | | |
| प्रद्योत वंश ने | १२८ वर्ष | ,, | ,, | ,, |
| शिशुनाग वंश ने | ३६२ वर्ष | ,, | ,, | ,, |
| महा पद्मनन्द ने | १०१ वर्ष | ,, | ,, | ,, |
| मौर्य वंश ने | १३६ वर्ष | ,, | ,, | ,, |
| शुंग वंश ने | १११ वर्ष | ,, | ,, | ,, |
| कण्व वंश ने | ४५ वर्ष | ,, | ,, | ,, |
| आन्ध्र वंश और अमीर वंश ने | ४५६ वर्ष | ,, | ,, | ,, |
| अमीर वंश का काल ईसा पूर्व | ७५२ वर्ष था। | | | |
| आज ईसा सम्वत् | १९७६ है। | | | |

अर्थात् महाभारत युद्ध का काल है ५०६८ वर्ष

उत्तरी भारत के राजाओं की वंशावली महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में प्रकाशित की है। उस ग्रन्थ के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में दी गयी वंशावलियों का सारांश यहाँ दिया जा रहा है।

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| युधिष्ठिर की ३० पीढ़ी राज्य अवधि | | | १७७० वर्ष | ११ मास | १० दिन |
| विश्रवा की | १४ „ | „ „ | ५०० „ | ३ „ | १७ „ |
| वीर महा की | १६ „ | „ „ | ४४५ „ | ५ „ | ३ „ |
| बन्धर की | ९ „ | „ „ | ३७४ „ | ११ „ | २६ „ |
| महान् पाल की | १ „ | „ „ | १४ „ | ० „ | ० „ |
| विक्रमादित्य की | १ „ | „ „ | ३९ „ | ० „ | ० „ |
| समुद्रपाल की | १६ „ | „ „ | ३७२ „ | ४ „ | २७ „ |
| मुलुख चन्द्र की | १० „ | „ „ | १९१ „ | १ „ | १६ „ |
| हरि प्रेम की | ४ „ | „ „ | ५० „ | ० „ | २१ „ |
| अंध सेन की | १२ „ | „ „ | १५१ „ | ११ „ | २ „ |
| दीप सिंह की | ६ „ | „ „ | १०७ „ | ६ „ | २२ „ |
| पृथ्वीराज की | ५ „ | „ „ | ८६ „ | ० „ | २० „ |
| कुल १२ राजवंश पीढ़ियाँ | १२४ | राज्यकाल | ४१५७ वर्ष | ९ मास | १४ दिन |

क्योंकि यह युधिष्ठिर संवत् है, अतः कलि सम्वत् प्रतीत करने के लिये युधिष्ठिर का राज्य काल ३६ वर्ष ८ मास २५ दिन कम करने चाहियें। अभिप्राय यह कि पृथ्वीराज के वंशज कलि संवत् ४१५७ में भारतवर्ष में राज्य कर रहे थे।

पृथ्वीराज के वंशज यशपाल को शहाबुद्दीन गोरी ने पराजित किया था। वर्तमान इतिहास, जो स्कूलों कालिजों में प्रचलित है, वह मुसलमानों का लिखा है। उस पर कुछ अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता।

भारतीय काल-गणना के अनुसार विक्रमी संवत् कलि संवत् ३०४४ के पश्चात् आरम्भ हुआ। यह बात भारतीय काल गणनानुसार सर्व-सम्मत है।

शहाबुद्दीन गोरी ने सं० ११७२ में दिल्ली पर अधिकार किया था। आज ईसवी सन् १९७६ है। अतः १९७६—११७२=८०४ वर्ष पूर्व।

इससे यह गणना बनती है कि युधिष्ठिर राज्य को आज हुए हैं—४१५७ +८०४=४९६१ वर्ष।

इस गणना तथा उपरलिखित पूर्ण गणना में कुछ अन्तर है। कदाचित् उत्तरी भारत के राज्य-काल में कुछ भूल है। कुछ भी हो, यह निश्चित ही है कि कलियुग को लगभग ५,००० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

हमने इस पुस्तक में वेद के काल से आज तक के इतिहास की परम्परा दी है। इसका प्रयोजन यह है कि यूरोपियन लेखकों ने भारत का इतिहास

भारतीय साधनों से संकलित करने का यत्न न कर विदेशियों के अविश्वसनीय लेखों से संकलित करने का यत्न किया है। यह क्यों किया गया है ? इसमें पक्षपात और भारत के साहित्य की अप्राचीनता प्रसिद्ध करने के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं हो सकता।

यह सब वेदों की प्राचीनता को निर्विवाद रूप में सिद्ध करने के लिये लिखा गया है। वेदों के अपने कथनानुसार वेद छन्दों के रूप में तो सृष्टि-रचना के तीसरे मन्वन्तर में उच्चारित हुए थे। हमारे मतानुसार इसको आज १,९६, ०६,५२,६७६ वर्ष हो चुके हैं।

सूर्य सिद्धान्त में, जो सृष्टि-रचना आरम्भ का काल कहा है, वह हमें ऊपर दे आये हैं। दोनों में अन्तर होना स्वाभाविक ही है। वेदानुसार छन्दों का उच्चारण तब हुआ जब हिरण्यगर्भ फटा और नक्षत्र ग्रहादि बन चुके थे।

'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' पर टिप्पणी लिखते हुए पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक भी सृष्टि संवत् १,६७,२६,४६,०७६ माना है। स्वामी दयानन्द जी से दिया काल हम छन्द उच्चारण-काल मानते हैं।

यहाँ आर्य समाज क्षेत्र में चल रही एक चर्चा का उल्लेख कर देना उचित ही होगा। कुछ लोग यह मानते हैं कि वेद का आविर्भाव काल जो स्वामी दयानन्द जी ने कहा है, वह सृष्टि रचना का काल भी है। स्वामी जी ने भी ऐसा ही माना है। परन्तु स्वामी जी की भूल यह नहीं कि वेद के आविर्भाव को कितने वर्ष हुए हैं। भूल सृष्टि-रचना काल में है और वह भूल गणित की है।

लिखा है—और इन चारों युगों के (४३,२०,०००) तैंतालीस लाख बीस हज़ार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है। इकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के (अर्थात् ३०,६७,२०,०००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर में यह अट्ठाईसवी चतुर्युगी है।

बस भूल इसी कथन में है। एक ब्रह्म दिन में ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। इसके अनुसार मन्वन्तर में ३०,८५,७१,४२८ वर्ष बनते हैं और ब्रह्म दिन में १००० चतुर्युगियाँ होती हैं। इस गणना से एक मन्वन्तर में ७१.४३ चतुर्युंगियाँ बनती हैं केवल ७१ नहीं।

इस थोड़ी-सी भूल से पूर्ण गणना में चार करोड़ वर्ष के लगभग का अन्तर पड़ गया है। हम समझते हैं कि यह भूल स्वामी जी द्वारा नहीं हुई। इसका एक उदाहरण हम यहाँ देकर बात स्पष्ट करना चाहते हैं।

---

१. देखिये ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका अजमेर संस्करण दयानन्दाब्द, १२४, पृष्ठ पंक्ति २६, ६ पर।

'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' के इतने संस्करण निकल चुके हैं। यह अब तक ठीक हो जानी चाहिये थी अथवा इसके नीचे टिप्पणी तो दी ही जा सकती थी।

स्वामी दयानन्द जी कृत यजुर्वेद भाष्य (आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली दिल्ली द्वारा प्रकाशित) की भूमिका में आचार्य प्रियव्रत वेद-वाचस्पति लिखते हैं—

'इस समय प्रायः ऋषि विरुद्ध १,६७,२६,०४,६०,७३ सम्वत् का प्रयोग किया जाता है—

यह अंक अशुद्ध छपा है। (यह मूल प० प्रियव्रत जी की नहीं, ग्रन्थ के सम्पादक की है।) अंक होना चाहिये १,६७,२६,४६,४०६। महर्षि सृष्टि की आयु १००० चतुर्युगी मानते हैं और मुक्त काल ६६४ चतुर्युगी मानते हैं। वे सृष्टि उत्पत्ति काल और वेदोत्पत्ति काल को एक ही मानते हैं। इसके आगे जो कुछ लिखा है, वह लेखक ने अपने मन से लिखा है। स्वामी जी ने ऐसा कुछ नहीं लिखा। परन्तु जो कुछ पण्डित प्रियव्रत जी ने लिखा है, वह भी अशुद्ध है।

तनिक देखें —

ब्रह्म दिन = १००० चतुर्युगियाँ = १४ मन्वन्तर

अतः एक मन्वन्तर = ७१.४३ चतुर्युगियाँ

इस प्रकार व्यतीत ६ मन्वन्तर = ४२८.५८ चतुर्युगियाँ

सातवें मन्वन्तर का व्यतीत काल = २७ चतुर्युगियाँ

अतः ६ मन्वन्तर और सत्ताईस चतुर्युगियाँ = ४५५.५८ चतुर्युगियाँ

पण्डित प्रियव्रत जी कहते हैं कि स्वामी जी मानते थे कि भुक्त काल की ६६४ चतुर्युगियाँ हैं।

जो कुछ पं० प्रियव्रत जी ने कहा है वह स्वामी जी का कहा नहीं है। यह पंडित जी की अपनी कल्पना है और अशुद्ध है।

# खण्ड चार

: १ :

## वेदों के मुख्य विषय क्या-क्या हैं ?

इस छोटी-सी पुस्तक में सब विषय नहीं बताये जा सकते। उनके नाम और उनका अति संक्षिप्त वर्णन भी सम्भव नहीं। इस कारण केवल मुख्य विषयों के ही नाम और उनमें से दो एक का ही कुछ परिचय यहाँ दिया जा सकता है। वैसे मुख्य विषय ये हैं।—

(१) सृष्टि-रचना।

(२) रचनाओं में देवताओं की उत्पत्ति और उनका कार्य।

(३) मानव व्यवहार।

(४) पदार्थ विज्ञान।

(५) परमात्मा की स्तुति अर्थात् उसके गुण कर्म स्वभाव का वर्णन।

इन और संसार के अन्य विषयों को कहने के लिए 'कुल मन्त्र बीस हज़ार तीन सौ छयालीस से ऊपर हैं (२०,३४६)।

परन्तु परमात्मा का संसार इतना बड़ा है कि इतने बड़े मन्त्र भण्डार में भी केवल अति संक्षेप में ही विषय का वर्णन किया जा सका है।

मन्त्र गणना का वर्णन करते हुए हम यहाँ पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा दी गयी एक टिप्पणी को उद्धृत कर देना चाहते हैं। यह उन्होंने रामलाल ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित महर्षि दयानन्द रचित ऋग्वेद भाष्य में दी है। इस विषय पर अन्य कहीं लिखा नहीं मिला।

ऋग्वेद की ऋक् गणना पर कुछ मतभेद पाया जाता है। इस विषय में मीमांसक जी लिखते हैं—

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रदर्शित ऋक् संख्या पर विचार करने से पूर्व ऋग्वेद से ऋक् गणना की जो विशिष्ट पद्धति है उसको समझ लेना अत्यावश्यक है। क्योंकि इसकी यथार्थता न समझने के कारण समस्त आधुनिक विद्वानों ने ऋक् गणना में भयंकर भूलें की हैं।

### ऋक्गणना और द्विपदा ऋचाएँ—

ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनको किसी समय दो-दो पाद का एक मन्त्र मानकर गिनते रहे हैं। और किसी समय उनको चार-चार पाद का एक मन्त्र मानते रहे हैं। अर्थात् उस समय दो-दो पाद द्विपात् मन्त्रों का एक चतुष्पात् मन्त्र माना जाता रहा है। द्विपदा पक्ष में ऋग्वेद में समस्त १५७ द्विपदा ऋचाएँ हैं। इनमें १७ नित्य द्विपदा ऋचाएँ हैं। शेष १४० द्विपदा ऋचाएँ नैमित्तक हैं। अर्थात् ये १४० वस्तुता द्विपदा नहीं हैं।

अतः १४० को दो से भाग देने से ७० चतुष्पदा ऋचाएँ हुईं। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'द्विपदः शंसति' आदि वाक्यों से ये ऋचाएँ द्विपदा बनाकर यज्ञ में विनियुक्त की जाती हैं। अतः इस ७० × २ = १४० ऋचाओं को 'नैमित्तिक द्विपदा' कहा जाता है। इनके विषय में ऋक्सर्वानुक्रमणी के परिभाषा-प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—'द्विद्विपदास्त्वृचः सममनन्ति'।

यही कारण है कि ऋग्गणना में कहीं-कहीं मतभेद दिखाई देता है। उदाहरण के रूप में शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार १०५८० और १ पाद ऋक् संख्या है।

ऋक्सर्वानुक्रमणी (टीकाकार जगन्नाथ) के अनुसार १०५५२। चरण व्यूह टीकाकार महिदास वालखिल्य सहित ऋक् संख्या १०५५२ बनाते हैं। स्वामी दयानन्द ने समस्त ऋचाओं का योग १०५८९ लिखा है।

श्री मीमांसक जी ने इसमें भी अशुद्धि निकाली है। दशों मण्डलों की पृथक्-पृथक् मंत्र संख्या का जोड़ करने पर १०५२१ बनता है। मीमांसक जी का मत है कि स्वामी जी ने भूल की है और फिर अक्षरों में भूल करने से शब्दों में भी भूल हो गयी है। सुतरां स्वामी दयानन्द जी की गणनानुसार ऋक् संख्या १०५२१ बनती है। मीमांसक जी का कहना है यह संख्या १०५२२ होनी चाहिये।

यजुर्वेद की मन्त्र संख्या १९७५ है। साम वेद में १८७३ और अथर्ववेद में ५९७७ मंत्र हैं। इस प्रकार कुल मन्त्र संख्या २०,३४६ है।

यह विवरण हमने इस कारण दिया है जिससे पाठक समझ लें कि किस अथाह ज्ञान सागर की प्रवेशिका हम लिख रहे हैं। जिस विषय पर भी हम आगे चलकर लिखेंगे वह अति-अति संक्षेप में ही हो सकता है।

## (१) वेद में सृष्टि रचना के विषय में

### जगत् रचना से पूर्व

वेद में कहा है कि जगत् रचना से पूर्व यहाँ कुछ भी सत् (स्वरूपवान्)

तथा असत् (अस्वरूपवान्) नहीं था। एक अन्धकारमय गहन गम्भीर समुद्र की भाँति था।

यहाँ कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो नाश को प्राप्त हो रही हो। न ही कुछ ऐसा था जो बन रहा हो। सब शान्त निश्चल था। इस पर भी एक पदार्थ था जिसे स्वधा कहते हैं क्योंकि वह अपने-आप स्थित था। इसके साथ एक आनीदवात (शान्त निश्चल शक्ति) भी थी। अनीद्वातं का अर्थ है न काम कर रही शक्ति (energy in potential state)।

—ऋ० १०-१२९-१,२०

ऋग्वेद के इन दो मन्त्रों का भाव साँख्य दर्शन के सूत्र १-६१ में बताया है—सत्त्व रजस् तमसां साम्यावस्था प्रकृति'।

अर्थ है—स्वधा अर्थात् प्रकृति के परमाणुओं में सत्त्व, रजस् और तमस् गुण साम्यावस्था (balanced state) में थे।

शतपथ ब्राह्मण में इसका वर्णन इस प्रकार है—

'असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्त दाहुः के तऽऋषय इति प्राणा···

—शतपथ ब्रा० ६-१-१-१

अर्थात्—पहले यह सब असत् (अरूपवान्) ही था। इस पर कहते हैं कि वह असत् क्या था। पहले वह असत् ऋषि ही थे। इस पर कहते हैं कि ऋषि कौन थे। वे ऋषि प्राण थे।

अभिप्राय यह कि वर्तमान् जगत् की रचना के पूर्व एक स्वधा थी और दूसरा प्राण था। स्वधा अप्रज्ञात अवस्था में थी और प्राण निश्चल था।

ऐसी अवस्था में रचना का प्रथम कार्य हुआ।

वर्तमान रचना से पूर्व अन्धकारमय गहन गम्भीर समुद्रवत् में स्वधा सलिल अवस्था में थी। सलिल का अभिप्राय है बह जाने वाली। (जैसे जल बह जाता है।) इसका अभिप्राय है कि स्वधा परमाणु अवस्था में थी और वे परमाणु परस्पर असम्बद्ध थे। इस समय एक महान् शक्ति सक्रिय हो गयी। इसका अभिप्राय यह है कि वह शक्ति जो अचलावस्था (potential state) में थी, वह चलायमान हो गयी। —ऋ० १०-१२९-३

इस समय न तो प्रकाश था न ही कोई वस्तु थी जिस पर प्रकाश पड़ सके।

अब वह महान् जिसका ऊपर के मन्त्र में वर्णन किया गया है, महान् नाद करता हुआ उत्पन्न हुआ। इसे इस मन्त्र में अर्वन् कहा है।

यह तीव्र गति से अन्तरिक्ष में ऊपर को चला और यह त्रितों (सत्त्व, रजस्, तमस् के गुट्ट)पर अधिष्ठित हो गया । यह अश्व था । इसने रचना की गाड़ी चला दी ।
—ऋ० १-१६३-१

यह अर्वन् जिसे तेज और अति महान् भी कहा है जब त्रितों अर्थात् परमाणुओं पर आधिष्ठित हुआ, तब यह सूर्य की रश्मियों के समान तिरछी गति से चलता हुआ आया था और यह परमाणुओं के ऊपर और नीचे छा गया ।
—ऋ० १०-१२९-४

कहा है—

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन ।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥
—ऋ० १-१६३-३

अर्थात्—

तू यम है । तू प्रकाशमान है । तू अर्वन् है । परमाणुओं के गुप्त गठजोड़ से, उस की शान्ति (साम्यावस्था) से पृथक् रूप वाले कहते हैं, तीन दिव्य गुण युक्त संयोग बन गये । अर्थात् तीन अहंकार बने ।

तमोभूत अवस्था में परमात्मा का तेज उत्पन्न हुआ । उसे महान् कहा है । उसे अर्वन् भी कहा है क्योंकि वह तेज भागता है । वह वेग से स्वधा के परमाणुओं पर छा गया और गुह्य व्रत (संगठन)को तोड़कर प्रकृति की साम्यावस्था भंग कर तीन अहंकार उत्पन्न किये । ये परमाणुओं से पृथक् प्रकार के थे और दिव्य गुण युक्त थे ।

आगे कहा है—

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे ।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥
—ऋ० १-१६३-४

अर्थात्—समुद्र (अन्तरिक्ष) में वे तीन दिव्य गुण युक्त (अहंकार) बनने पर वे तीन अपः हुए । वे वैसे ही थे । वहाँ वे (छन्त्सि) संयुक्त होने लगे और उनके इस कर्म से (परमम्) परम ब्रह्म अर्थात् जगत् बनने लगा ।

यहाँ परमम् का अर्थ जगत् किया है । श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार यह तीन ब्रह्मों से बना होने से परम ब्रह्म है (श्वे० १-७)

अहंकारों को अपः कहा है और पूर्ण चराचर जगत् उसी से बना है ।

आगे कहा है—

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानां सनितुर्निधाना
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः ।।
—ऋ० १-१६३-५

अर्थात्—

वह जो ऊपर बताये तीन दिव्य गुणयुक्त जगत् रचना कर रहे हैं, अश्व समान रचना कार्य को आगे और आगे ले चलते हैं। वे पदार्थों का शोधन-विभाजन करने लगे जिससे हम देखते हैं कि पदार्थों का सेवन और रसास्वादन होता है और जिनसे संसार की रक्षा करते हैं।

यह हुई जगत् रचना। ऐसी सृष्टि रचना बार-बार होती है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णव ।। ऋ०१०-१९०-१
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।। ऋ०१०-१९०-२

अर्थात्—

सब ओर से किये जाने वाले तप से (तेज से उत्पन्न होने वाली गरमी से) ऋत (सृष्टि रचना के अनादि नियम) और सत्य[1] प्रकट हुआ। उसी (ऋत और सत्य) से रात्रि (प्रलयकाल) उत्पन्न हुई। उसी से समुद्र (अन्तरिक्ष में अर्णव (हलचल उत्पन्न) हुई ।।१।।

उस विक्षुब्ध अन्तरिक्ष में संवत्सर (काल) उत्पन्न हुआ। काल उत्पन्न होने से दिन और रात बन गये। और इस निमिषादि काल के वश में सम्पूर्ण जगत् हो गया। (इसका अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण चराचर जगत् कालाधीन व्यवहार करने लगा)।

आगे कहा है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।। ऋ०१०-१९०-३

अर्थात्—जैसे पूर्व के कल्पों में बनाया था परमात्मा ने, वैसे ही सूर्य, चन्द्रमा, आकाश और पृथिवी तथा अन्तरिक्ष के पदार्थों को रचा।

इस प्रकार तेज और स्वधा के परमाणुओं से जगत् और सृष्टि की रचना बता कर यह बता दिया है कि यह कुछ नवीन नहीं बना। अनादि काल से यह बनता और बिगड़ता चला आया है। ब्रह्म दिन और ब्रह्म रात्रि अनादि काल से

---

१. (स्वरूपवान् जगत्—देखें बृहद्० उप० ५-५-१)

एक-दूसरे के उपरान्त बनते चले आये हैं। रात्रि को भी उत्पन्न किया, का यही अभिप्राय है कि रात्रि से पूर्व दिन था।

## (२) देवताओं के निर्माण के विषय में

यहाँ हम कुछ मन्त्र ऋ० वेद के १०वें मण्डल के ७२वें सूत्र में से दे रहे हैं। इस सूक्त का देवता (विषय) 'देवाः' है। अर्थात्—इस सूक्त में देवताओं का वर्णन है।

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥१॥

अर्थात्—हम देवताओं के जन्म की बात को स्पष्ट वाणी में और भली प्रकार वर्णन करते हैं। उत्तर युग में इन्होंने सब मनुष्यों में वेद का उपदेश किया था। ऐसा हम देखते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि-क्रम में, कुछ पीछे-मध्य काल में—कुछ दिव्य गुण युक्त पदार्थ बने थे और उन्होंने वेद का उपदेश किया था।

ऋषि बता रहे हैं कि उन्होंने यह होता देखा है। वेदों के छन्द ऋषियों ने ही पहले सुने थे। (यहाँ यह भी कहा है कि वेद सब मनुष्यों के लिए हैं।)

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥२॥

अर्थ है—ब्रह्माण्ड अर्थात् प्रकृति के स्वामी ने इन सब लोकों को लुहार की भाँति गरम कर और ठोक-ठोक कर बनाया।

देवताओं की उत्पत्ति से पूर्व के युग में असत् (अव्यक्त) से सत् (व्यक्त) बना था।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि देवता अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त रूप में आ जाने के उपरान्त बने थे।

सांख्य-दर्शन में कहा है कि प्रकृति अव्यक्त है। महत् और अहंकार भी अव्यक्त हैं। इनको अविशेष कहते हैं। प्रकृति का व्यक्त रूप तो परिमण्डल बनने लगभग पर बना। परिमण्डल को सूक्ष्म महाभूत कहते हैं। इनको आजकल के वैज्ञानिक १०० प्रकार के मानते हैं। परन्तु भारतीय वैज्ञानिक इनको पाँच रूपों में विभक्त करते हैं। पार्थव (solids), जलीय (liquids), वायवीय (gasseus), आग्नेय (radio active), और आकाशीय (inert)। परिमण्डलों के परस्पर संयोगों से स्थूल पंचमहाभूत बनते हैं और वे असंख्य प्रकार के पदार्थ बनाते हैं।

आगे कहा है—

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥३॥

देवताओं के निर्माण से कुछ ही पहले अव्यक्त प्रकृति व्यक्त में बदल चुकी थी । तब दिशाएँ बनीं । उसके उपरान्त ऊपर की ओर पग रखने वाले (सूर्यादि) उत्पन्न हुए ।

आगे कहा है—

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्तः ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥४॥

अर्थात्—

समस्त जगत् के यज्ञ अर्थात् कल्याण करने वाले कर्म में ऊपर चलनेवाले (सूर्यादि) प्रकट हुए । सब को उत्पन्न करने वाली प्रकृति (मूल प्रकृति) से फैल जाने वाली शक्तियाँ (अग्नि, वायु इत्यादि) उत्पन्न हुईं । प्रकृति से दग्ध करने वाली अग्नि (वैश्वानर) उत्पन्न हुई । पीछे पृथिवी इत्यादि बनीं ।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब असत् से सत् बना तो यह मूल प्रकृति से ही बना था । यहाँ अदिति से कहा है । अदिति ही मूल प्रकृति है । असत्-सत् दोनों प्रकृति के ही नाम हैं । असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति से सत् अर्थात् कार्य-जगत् बना तो अग्नि उत्पन्न हुई । यह अग्नि सत्त्व, रजस्, तमस् के आकर्षण-विकर्षण से उत्पन्न हुई थी । इसे वैश्वानर अग्नि कहा है । इसे दक्ष भी कहा है । यह अग्नि चारों ओर फैल गयी और इससे निर्माण कार्य आरम्भ हुआ ।

आगे कहा है—

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥५॥

अर्थात्—

दक्ष से ही अदिति उत्पन्न हुई । यहाँ अदिति से अभिप्राय है पृथिवी । इसके उत्पन्न होने को ही यज्ञ कहा है । पृथिवी उत्पन्न हुई जो तेरी लड़की है । उसके उपरान्त बहुत से दिव्य गुण युक्त पदार्थ उत्पन्न हुए । कल्याण के लिए उससे अमृत (जीवात्मा) बन्ध गया ।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब दक्ष (वैश्वानर) की पुत्री पृथिवी उत्पन्न हो गयी तो बहुत से पदार्थ उत्पन्न हुए जो दिव्य गुणों से युक्त थे और उन पदार्थों से अमृत जीवात्मा बन्ध गया । इससे उसका कल्याण हुआ ।

आगे कहा है—

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अविष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥६॥

अर्थात्—देवता इस बह जाने वाली प्रकृति से भली प्रकार संगठित होने पर बने और स्थित हुए । इनमें नृत्य करते हुए (जीव) तीव्र गति से आने जाने लगे ।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि यद्यपि देवता बने वैश्वानर अग्नि से, परन्तु वे बने सलिल (मूल प्रकृति) से ही । तब वे दिव्य गुण वाले पदार्थों में तीव्र गति से ऐसे आने जाने लगे, मानो वे नृत्य कर रहे हैं ।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आगूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥७॥

अर्थात्—जैसे मेघ (जल से) लोकलोकान्तर को तृप्त करते हैं, वैसे ही इस स्थान पर (पृथिवी पर) दूर अन्तरिक्ष में उपस्थित सूर्य अपनी किरणों से सींचता है ।

अभिप्राय यह है कि सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी को ऐसे ही सींचता है जैसे मेघ वर्षा के जल से भुवनों को सींचता है ।

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।
देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ॥८॥

अर्थात्—मूल प्रकृति के आठ पुत्र हैं । (अग्नि के) फैलने से ये उत्पन्न हुए । इन्होंने देवता उत्पन्न किये और मृत खण्डों के रूप में दूर से आकर स्थित हो गये ।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मूल प्रकृति से जो अहंकार उत्पन्न हुए थे और उनसे अग्नि का विस्तार हुआ था, उससे सात पुत्र उत्पन्न हुए । वे सात पुत्र क्या थे ? उनको इस प्रकार समझना चाहिये कि प्राणी सृष्टि के उत्पन्न होने के उपरान्त बने ।

अन्य भाष्यकारों ने इनको सात ग्रह माना है । कुछ ने इनको महत्, अहंकार और पंच तन्मात्र-समूह माना है । हम समझते हैं कि इनका अभिप्राय है प्राणी में कार्य करने वाले सात प्राण और वायु । मन्त्रों के क्रम और उनमें व्यक्त किये भावों का विचार कर हमारा यही अनुमान बनता है ।

आगे मन्त्र में कहा है—

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥९॥

अर्थात्—सात पुत्रों द्वारा इस पृथिवी पर पूर्व युग के मृत जीव आते हैं ।

(पूर्व युग में) प्राणी मरने पर मृत अण्डों के समान यहाँ आये थे और यहाँ उत्पन्न हुए।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जो जीवात्मा इस पृथिवी पर आये, वे पूर्व कल्प में प्रलय के कारण मृत अण्डों में चले गये थे। वे मृत अण्डों के रूप में ही यहाँ आये। यहाँ आकर वे प्राणी शरीर को प्राप्त हुए।

इस मन्त्र का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि इस पृथिवी पर जन्म लेने (स्थूल शरीर ग्रहण करने) के पूर्व अण्डों के समान सूक्ष्म शरीर में लिपटे हुए आये।

एक बात समझ लेनी चाहिये कि हमने अदिति के दो अर्थ किये हैं। मूल प्रकृति और पृथिवी भी। इसके दोनों ही अर्थ हैं। जहाँ जो उपयुक्त प्रतीत हो, वह अर्थ प्रयोग करना चाहिये।

वेद के इस सूक्त (ऋ० १०-७२) में देवताओं के बनने का वर्णन है। यह इस प्रकार है कि देवताओं के बनने से पहले अव्यक्त प्रकृति थी। अव्यक्त प्रकृति व्यक्त रूप में हो गई। सांख्य सिद्धांत के अनुसार प्रकृति के परमाणु असम अवस्था में प्रथम स्थाना देवता (ब्रह्म तेज) के प्रभाव से हुए। तब प्रकृति में परिवर्तनों की परम्परा चल पड़ी।

इस परम्परा में सर्वप्रथम महत् बना, तदनन्तर अहंकार बने और फिर अहंकारों से मध्य-स्थाना देवता बने। इन देवताओं में अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण इत्यादि थे।

इन्हीं देवताओं के साथ-साथ सात प्राण भी उत्पन्न हुए। जब पृथिवी पर पृथिवी-स्थाना देवता बने तो उनमें एक प्राणी भी हुआ। वे सात प्राण प्राणी में आ गये और प्राणियों के मृत अण्डों (सूक्ष्म शरीरों) को पृथिवी पर ले आये और यहाँ प्राणी सृष्टि हो गयी। ये मृत अण्डे (सूक्ष्म शरीर) स्थूल शरीर वाले प्राणियों से पहले बने थे। प्राण ही इनको स्थूल शरीर में लाने में समर्थ हुए।

इस सूक्त के उपर्युक्त मन्त्रों से यह प्रकट होता है कि अव्यक्त से व्यक्त बनाने के लिये बहुत तप और श्रम किया गया। इसका अभिप्राय है कि उसमें महान् शक्ति का प्रयोग किया गया था और उस शक्ति के प्रयोग से बहुत ताप अर्थात ऊष्मा उत्पन्न हुई थी। इस ताप को वैश्वानर अग्नि कहा है। यह इस कारण क्योंकि इससे सम्पूर्ण चराचर जगत् बना। उस ताप से तपी हुई प्रकृति से परमात्मा ने लोहार की भाँति भिन्न-भिन्न पदार्थ बनाये।

इस पूर्ण चराचर और सजीव तथा निर्जीव सृष्टि में मनुष्य अंतिम देवता

है। देवता का अभिप्राय हम बता चुके हैं। वह पदार्थ, जो दिव्य गुण रखता हो। दिव्य गुणों का उत्पन्न होना केवल परमात्मा से ही सम्भव है। बिना परमात्मा के अन्य कोई शक्ति नहीं जो इन देवताओं को बना सके। ये बनते प्रकृति से ही हैं, परन्तु इनके निर्माण का सामर्थ्य केवल परमात्मा में ही है। इसी कारण इनको दिव्य कहा जाता है।

मनुष्य को भी देवता माना है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १६४ वां सूक्त विश्व देवताओं के विषय में ही है। मनुष्य उनमें प्रथम स्थान पर रखा गया है। इस सूक्त का पहला मन्त्र है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

—ऋ० १-१६४-१

अर्थात्—

इस सुन्दर वृद्धता को प्राप्त होने वाले (शरीर) का होतु (यज्ञ में प्रयोग करने वाला) एक भाई बीच में बैठा भोग करता है।

एक तीसरा भाई सबका पालन करने वाला और सब का स्वामी है। उसे मैं यहाँ (प्राणी शरीर में) देखता हूँ। वह यहाँ अपने सात पुत्रों के साथ विद्यमान है।

## (३) मानव व्यवहार के विषय में

पृथिवी पर वेद ज्ञान मनुष्य मात्र के लिये ही है। यह पशुओं के लिये नहीं है। इसके विषय में हम मन्त्र (यजु: २६-२ : यथेमा वाचं) का उद्धरण ऊपर दे चुके हैं। उस मन्त्र में कहा है कि परमात्मा ने वेद वाणी मनुष्य मात्र के लिये कही है। इतर जीव-जन्तुओं का उसमें कथन नहीं है।

मनुष्य-व्यवहार को बताने वाले मन्त्र ऋषियों ने यजुर्वेद में पृथक् कर रखे हैं। यजुर्वेद इस विषय में विस्तार से कहता है। यही तो सृष्टि आरम्भ में वेद ज्ञान देने का उद्देश्य कहा गया है। यजुवद का प्रथम मन्त्र ही यह है कि मनुष्य का जीवन इस भूतल पर दो पदार्थों के आश्रय है। मनुष्य को उसकी स्तुति (इनके गुण कर्म स्वभाव को जानने का यत्न) करनी चाहिये।

यह मंत्र (यजु० १-१) हम ऊपर लिख आये हैं। उसमें बताया है कि अन्न और ऊर्जा दो पदार्थ हैं जिन पर मनुष्य जीवन निर्भर करता है।

परन्तु यह तो सब प्राणियों का है। क्योंकि वेद को समझने का सामर्थ्य

मनुष्य में ही है, इस कारण मनुष्य को लक्ष्य रख कर ही सब कुछ कहा गया है। यूँ तो उस मन्त्र में पशुओं के जीवन में भी ऊर्जा और अन्न के महत्व का वर्णन है। वहाँ कहा है कि यह अन्न और ऊर्जा अघ्न्य पशुओं (गाय, भैंस, भेड़, बकरी इत्यादि) के लिये भी माँगी गयी है।

वास्तव में यजुर्वेद मानव मात्र के लिये ही है।

इसी वेद का दूसरा मन्त्र है कि परमात्मा ने इस सृष्टि की रचना यज्ञ रूप में की है। इसी कारण परमात्मा को वसु कहते हैं। वसु का अर्थ है यज्ञ।

यज्ञ के अर्थ महर्षि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में 'मन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' अध्याय में बताये हैं। स्वामी जी कहते हैं—(१) जिसमें विद्वानों का सत्कार हो; (२) जिसमें ज्ञान-विज्ञान से लोक-कल्याणार्थ वस्तुओं का निर्माण हो; (३) जल, वायु इत्यादि की शुद्धि हो; (४) रचना-कार्य अर्थात् सन्तानोत्पत्ति हो।

अतः मनुष्य-जीवन यदि चार बातों की धुरि पर आधारित हो तो वह यज्ञमय जीवन कहाता है। यजुर्वेद इसको इस प्रकार कहता है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ —यजु० १-५

अर्थात्—

हे अग्ने! तू व्रतों का पालन करने वाला है। मैं व्रत करता हूँ कि मैं अनृत को छोड़ सत्य का ग्रहण करूँ। वह मेरा व्रत सिद्ध हो।

मनुष्य अपनी योजनाओं को पूर्ण करने के लिये संकल्प करता है। दृढ़ संकल्प को ही व्रत कहते हैं। यहाँ अग्नि का अभिप्राय शक्ति, जिससे संसार के काम चलते हैं, भी कहा जा सकता है। अग्नि परमात्मा को भी कह सकते हैं। वह भी सब के संकल्प पूर्ण करने वाला है।

मनुष्य जीवन में संकल्प करे कि वह अनृत से सत्य को प्राप्त हो। इसके सामान्य अर्थ हैं कि झूठ को छोड़ कर सत्य को ग्रहण करे। इसके एक और भी अर्थ हैं। ऋत के अर्थ हैं अनादि नियम (eternal laws)। कहा है इन अनादि नियमों की अज्ञानता से निकल कर सत्य, जो वस्तु स्थिति है, उसको प्राप्त होऊँ।

यह जीवन का उद्देश्य भी कहा जा सकता है। अग्नि (ऊर्जा) मनुष्य के सब कामों को पूरा करने की सामर्थ्य रखता है। इस कारण शक्ति को प्राप्त करने, अर्थात् उसके गुण, कर्म स्वभाव को जानने के विषय में कहा है।

यजुर्वेद का यह प्रथम उपदेश है। संसारी मनुष्य के लिये यह ही उपदेश

सार्थक है। मनुष्य ने जीवन में क्या करना है, इस विषय में दृढ़ संकल्प होकर वह इसमें प्रवेश करे।

जीवन में प्रवेश दृढ़ संकल्प करके ही करना चाहिये। तब ही सफलता प्राप्त हो सकती है।

इस मन्त्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि मनुष्य इस प्रकार व्रत करे—

व्रतमुपैष्यन्। अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नपऽउपस्पृशति... —शतपथ० १-१-१-१

वह आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के बीच में पूर्वाभिमुख खड़ा होकर जल का स्पर्श करे—

इसका अभिप्राय है कि मनुष्य घर में दो प्रकार के कार्य करे। एक लोक-कल्याण के कार्य और दूसरे घर-गृहस्थी को चलाने के कार्य। और इन दो प्रकार के कामों को जीवन भर चलाये।

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

प्रत्युष्टँ् रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तँ् रक्षो निष्टप्ताऽरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥ —यजु० १-७

अर्थ है—दुष्ट जनों की भली भाँति परीक्षा कर तथा धन लेकर न देने वाले (कंजूस) अथवा परद्रव्यापहारी की परीक्षा कर दुष्ट-जनों को विनष्ट और अरातय का विनाश करूँ। ऐसा करने से मेरी उन्नति हो।

वेद परीक्षित दुष्ट व्यक्ति और दूसरे का धन लेने वाले को नष्ट कर देने का उपदेश देता है। इसमें हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। जब परीक्षा से निश्चय हो जाये कि अपराधी स्वभाव से अपराध कर रहा है और उसको क्षमा करने से वह सुधरेगा नहीं, तब उसे मानव-कलेवर में नहीं रहने देना चाहिए। ऐसे व्यक्ति की हत्या पाप नहीं, पुण्य है। जिसकी हत्या की जाये उसका भी कल्याण होता है और भले लोगों का भी जिनको उस मारे जाने वाले से मुक्ति मिलती है। उसका सुधार करना अथवा उसके स्वभाव को बदलना तो उसके शिक्षक का काम है। यदि वह शिक्षा प्राप्त करने की आयु से ऊपर हो चुका है तो उसका यह शरीर नष्ट कर उसे पुनः जन्म प्राप्त करा, उस आयु में भेज देना चाहिए जिसमें वह शिक्षा प्राप्त कर सके और अपना स्वभाव बदलने का अवसर प्राप्त कर सके।

जीवन के लिए एक अन्य आवश्यक बात कही है—

भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृँ् हन्तां दुर्याः पृथिव्यामुर्वन्त-

रिक्षमन्वेमि । पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थेऽग्ने हव्य्ँ रक्ष ॥

—यजु० १-११

परद्रव्यापहारियों को छोड़कर सब प्राणियों को सब प्रकार से देखूँ (अर्थात् उनकी रक्षा करूँ) उनके सुख कल्याण के लिए । ऊँचे उठे हुए स्थान पर दृढ़ हुआ और दरवाज़ों वाला घर, खुली भूमि के बीचोबीच स्थापित करूँ। वहाँ सूर्य रश्मियाँ पहुँचें और अग्नि तथा हविः की रक्षा हो ।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने और सब भले प्राणियों के कल्याण में प्रवृत्त हो । अपने लिए ऊँची उठी हुई भूमि पर मकान बनाए । उस मकान में द्वार हों, वह दृढ़ हो, उसमें वायु और प्रकाश आ सके । वह मकान खुली भूमि के बीचोबीच हो और उसमें हविः (अन्न) और अग्नि (ऊर्जा) को सुरक्षित रखने के लिये स्थान हो ।

शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से हम बता आये हैं कि मनुष्य को दो प्रकार की अग्नियाँ जलानी चाहिएं । अभिप्राय यह है कि अपने पास शक्ति को दो कार्यों के लिये सुरक्षित रखना चाहिये । एक घर गृहस्थी के लिए और दूसरे लोक कल्याण के कार्यों के लिये । इसी प्रकार घर में अन्न भण्डार को भी दोनों कार्यों के लिये सुरक्षित रखना चाहिये ।

इस भवन निर्माण के साथ यहाँ कुछ अन्य बात भी कही है ।

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सुर्य्यस्यरश्मिभिः । देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिँ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् ।

—यजु० १-१२

अर्थात्—(गृह को) दो ही पवित्र करने वाले हैं । यज्ञ और परमात्मा (यहाँ सवितः का अर्थ परमात्मा है) । ये उत्पन्न करते हैं निरंतर आने वाली सूर्य की किरणों को और जलों को । दोनों अत्यन्त पवित्र करने वाले हैं । ये दोनों आगे ही आगे चलते हैं और पवित्र करते हैं । ये ही मनुष्य के यज्ञ को आगे और आगे ले जाने में सहायक होते हैं । इससे यजमान (गृहस्थी) को धन-वैभव और सुख के साधन उपलब्ध होते हैं ।

अभिप्राय यह है कि मकान बनाया है जिसमें प्रकाश, वायु और जल का प्रबन्ध है । यजमान समझता है कि मकान पवित्र होता है दो साधनों से । एक तो परमात्मा की कृपा से और दूसरा-यज्ञरूपी कर्म से । परमात्मा ने सूर्य दिया है जो निरंतर अपनी किरणों से मकान को पवित्र रखता है और अन्न और शक्ति से परिपूर्ण रखता है । और दूसरे जल देकर । दोनों ईश्वरीय देन हैं

और दोनों से ही यजमान यज्ञ कर सकता है। यह भी यजमान के कार्यों को पवित्र करने वाला है। अतः दोनों के लिए मकान में साधन होने चाहियें। इनसे ही यजमान धन धान्य से सम्पन्न होता है और सुख सुविधा प्राप्त करता है।

पूर्ण यजुर्वेद मनुष्यों को इस संसार में रहते हुए व्यवहार का ढंग बताता है। यह भी कहा है कि मनुष्य समाज बनाकर रहे। समाज का वर्णन किया है। कहा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या॑ शूद्रोऽजायतः॥

—यजु० ३१-११

अर्थात—

समाज में शिर और मुख ब्राह्मण हों, बाहें क्षत्रिय हों, उरू (जंघाएँ) वैश्य हों, पाँव शूद्र हों।

जैसे मनुष्य में ये अंग काम करते हैं, समाज के ये अंग काम करें। समाज जब किसी देश में विराजमान और शक्ति सम्पन्न हो तो वह किस प्रकार कार्य करे, इसका वर्णन एक अन्य मन्त्र में किया है। किसी देश में शक्ति सम्पन्न समाज को राष्ट्र कहते हैं और राष्ट्र का स्वरूप इस मन्त्र में मिलता है।

आ ब्रह्मण् ब्राह्मणो ब्रह्म-वर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगेक्षेमो नः कल्पताम्॥

—यजु० २२-२२

अर्थात्—

हे परमेश्वर! हमारे राष्ट्र में वेदज्ञ ब्राह्मण उत्पन्न हों। राष्ट्र में शूरवीर क्षत्रिय जो निशाना लगाने में कुशल हों, उत्पन्न हों। ये शत्रुओं पर विजय पाने वाले हों। महारथी (सेना-नायक) उत्पन्न हों।

हमारे राष्ट्र में दूध देने वाली गउएँ और बोझा ढोने वाले बैल हों। शीघ्रगामी घोड़े, बहुत सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्रियाँ, शत्रुओं पर विजय पाने वाले और रथों पर सवारी कर सकने वाले शूरवीर और सभा-समाजों में यश प्राप्त करने वाले युवक उत्पन्न हों। हमारे राष्ट्र में यजमानों के युवक उत्पन्न हों और समयानुसार वर्षा हो।

खेतों में उपज फल वाली हो, देश में सदा योग क्षेम बना रहे।

वैसे तो वेदों में अनेकों विषयों पर लिखा हुआ है और उस सब में कुछ भी ऐसा नहीं, जो किसी भी काल में अनावश्यक अथवा असत्य प्रतीत हो। वेद में कहे सब विषयों पर कहने का तो न हमारा विचार है और न ही इस छोटी-सी पुस्तक में सम्भव है। इस पुस्तक का उद्देश्य तो केवल इतना मात्र स्पष्ट करना है कि वेद-विषय में प्रवेश करने वाले जिज्ञासुओं को ज्ञात हो जाये कि वे किस अथाह सागर में प्रवेश कर रहे हैं और किस प्रकार उसमें तैरते हुए उसका रसास्वादन करते हुए थाह पा सकेंगे।

# खण्ड पाँच

: १ :

## विशेष शब्द

इस खण्ड में हम वेद में कहे कुछ विशेष शब्दों का अभिप्राय बताना चाहते हैं।

### (१) ईश्वर—

इस विषय में एक वेद मन्त्र इस प्रकार है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

—यजु० ४०-१

स्वामी दयानन्द ईश का अर्थ करते हैं—ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना।

अर्थात्—सकल ऐश्वर्य्यं सम्पन्न सर्वशक्तिमान् ईश्वर—

यह जो सब चलायमान जगत् में है उस (ईश्वर) से छाया हुआ है। अर्थात् वह उसमें व्याप्त है (अर्थात् यह सब उसका बनाया है)। वह अन्य किसी का भी नहीं है। इस कारण उसका त्याग कर बिना लालच के भाव के उसमें रहे।

ईश्वर का अर्थ उस महान् ऐश्वर्यवान आत्म चेतन तत्त्व से है जो इस पूर्ण चलायमान जगत् का निर्माता और पालन कर्त्ता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि रचना से पूर्व जो कुछ न सत् न असत् (ऋ० १०-१२९-१) था क्या परमात्मा उसका स्वामी नहीं है क्या ?

वेद का कहना है कि तीन अनादि तत्त्व इस संसार में विद्यमान हैं। तीनों के अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभाव हैं। उस मूलावस्था में कोई भी एक दूसरे पर स्वामित्व नहीं रखता। इन तीनों में दो चेतन तत्त्व हैं और तीसरा जड़ है। इस पर भी दोनों चेतन इस जड़ पर आश्रित रहते हैं। इस विषय में

मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

—ऋ० १-१६४-२०

इस मन्त्र में तीन तत्त्वों का वर्णन है। दो चेतन हैं, एक जड़ है और वह काँट-छाँटकर अनेक रूपों में किया जा सकता है। इस पर भी तीनों अनादि हैं और इनके बनाने वाला कोई नहीं।

परन्तु जगत्, (सूर्य चन्द्र पृथिव्यादि) तो मूल प्रकृति से परमात्मा ने निर्माण किये हुए हैं। इस कारण वह उस पर छाया हुआ है। वह इस सबका स्वामी है।

(२) अग्नि—

इसके विषय में यह मन्त्र है—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥

—ऋ० २-१-१

अर्थात्—

हे अग्ने! तू सूर्य द्वारा (प्राप्त होती) है। तू शीघ्र ही विनष्ट करने की सामर्थ्य रखती है। तू जलों द्वारा भी प्राप्त होती है। तू पत्थरों से भी प्राप्त होती है। तू वनस्पतियों में औषधियों में से भी प्राप्त होती है। मनुष्यों की तुम राजा हो (तुम उसके कामों पर नियन्त्रण रखती हो) तुम पवित्र उत्पन्न होती हो।

अग्नि सूर्य से तो आती ही है। यह सर्व विदित है। यहाँ अग्नि से अभिप्राय शक्ति है। जलों से उत्पन्न होने का अभिप्राय बादलों में विद्युत के रूप में उत्पन्न होने से है। वनस्पतियों से अभिप्राय लकड़ी से भी हो सकता है और वनस्पतियों के सेवन से शरीर में शक्ति के संचार से भी हो सकता है। इसका प्रभाव विनष्ट (dis-integrate) करना भी है।

अतः अग्नि से अभिप्राय उस शक्ति से है जो निरन्तर सूर्य से पृथिवी पर आती है और फिर पृथिवी के सब पदार्थों में उपस्थित देखी जाती है। मनुष्य के शरीर में यह प्राण के रूप में शासन करती है।

अग्नि सब रूपों में मध्य-स्थानी देवता है। हम बता चुके हैं कि मध्य-स्थानी देवता से अभिप्राय सृष्टि रचना क्रम में मध्य में होना है।

वैसे यह अन्तरिक्ष और पृथिवी पर का देवता भी है। यह शक्ति रूप है और परमात्मा के तेज, प्रथम स्थाना देवता का परिवर्तित रूप ही है।

## (३) वायु—

इस विषय में एक मन्त्र है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ —ऋ० १-२-१

अर्थात्—

हे वायु! आओ। जो ये दर्शनीय अर्थात् इन्द्रियों से जाने योग्य पदार्थ हैं उनको सुन्दर बनाओ और उनकी रक्षा करो।

हम यह बता चुके हैं कि वायु मध्य-स्थाना देवता है। यह भी अग्नि के समान सृष्टि रचना-क्रम में मध्य में उत्पन्न हुआ था। यह वह शक्ति है जिससे व्यक्त पदार्थों के स्वरूप बनते हैं। पंच महाभूतों के सूक्ष्म रूप को स्थूल रूप देने वाला यही है। इसीलिये इसे वस्तुओं को स्वरूप देने वाली और सबको सुख सुविधा देने वाली शक्ति कहा है।

वायु अहंकारों के पीछे और पंच महाभूतों से पहले उत्पन्न होती है। वास्तव में पंच महाभूतों के अणु (molecules) बनते ही वायु के प्रभाव से हैं। वायु गति उत्पन्न करने वाली शक्ति भी है। जब तैजस अहंकार वैकारिक और भूतादि अहंकारों के चारों ओर चक्कर काटने लगते हैं, तब परिमण्डल बनता है, जो पंच महाभूतों की इकाई कहा जा सकता है। परिमण्डल भी परस्पर दो प्रकार से संयुक्त होते हैं। एक रासायनिक रूप में और दूसरे सशरीर (cohesion)। ये संयोग भी वायु के कारण ही होते हैं।

## (४) इन्द्र—

इन्द्र का अर्थ समझाने के लिये यास्क अपने निरुक्त में दो मन्त्र उद्धृत करता है। वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्बधानां अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद् वः सृजो वि धारा अव दानवं हन॥
—ऋ० ५-३२-१

अर्थात्—हे महान इन्द्र! तूने मेघों को फाड़ा और महान जल राशि का सृजन किया, छिद्रों को खोलकर। उदक से भरे हुए (मेघों को) बन्धे हुओं को बहाया।

तूने पर्वत समान मेघों को खोला और जल धाराओं का सृजन किया और मेघ दानव को मार गिराया।

अभिप्राय यह है कि इन्द्र वह विद्युत है जो मेघों में चमकती है और उन से वर्षा करती है। बादल आते हैं और बरसते नहीं, परन्तु जब बिजली चमकती है और बादलों को फाड़-फाड़कर जल प्रवाहित करती है तो भूमि जल थल हो हो जाती है। इन्द्र बादलों की विद्युत का नाम है।

एक अन्य मन्त्र है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २-१२-१

अर्थात्—जो पैदा होते ही मुख्य हुआ। वह मेधावी देव अपने कर्म से दूसरे देवताओं से बहुत ऊपर हुआ। जिसके बल से द्यावा, पृथिवी काँपते हैं। उस महान बल शाली को जानो इन्द्र है।

यहाँ भी अन्तरिक्ष में चमकने वाले को इन्द्र कहा है। वह उपकारी कार्य करता है और विनाशकारी कार्य भी करता है।

## (५) त्वष्टा—

इस शब्द के अर्थ यास्क इस मन्त्र से स्पष्ट करता है—

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥

—ऋ० ३-५५-१९

अर्थात्—सर्वरूप, उत्पादक देव त्वष्टा ने प्रजाओं को बहुत प्रकार से उत्पन्न किया और पुष्ट किया। सब भूत और भुवन अर्थात् उदक और देवों में इसका असुरत्व अर्थात् सामर्थ्य बनाने वाला वह एक मात्र है।

यास्क ने भुवनानि का अर्थ उदक किया है। इससे उसका अभिप्राय अपाः से है। अपाः अहंकारों को कहा है। अहंकारों से ही संसार के सब पदार्थ बने हैं। असुः प्राणों को कहते हैं। और ये सामर्थ्य के सूचक हैं।

त्वष्टा और सविता पर्यायवाचक कहे गये हैं। सविता सूर्य को भी कहते हैं। सविता अथवा त्वष्टा उस समय के सूर्य अथवा ज्योतिमय पदार्थों को कहा है जिस समय इसकी किरणों में अहंकारों को परिमण्डलों में अदला-बदली करने की सामर्थ्य थी। वैसे तो सूर्य रश्मियों में यह सामर्थ्य अभी भी इस सीमा तक देखी जाती है। पृथिवी के वायुमण्डल से ऊपर सूर्य की सामर्थ्य से पदार्थों में

हेर-फेर हो रही हैं।

(६) सविता—

इसके विषय में एक मन्त्र है—

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥
—ऋ० १०-१४६-१

यास्क कहता है—सविता सर्वस्य प्रसविता। अर्थात् सबको उत्पन्न करने वाला सविता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

सविता ने यन्त्रों से पृथिवी को थामा हुआ है। आश्रय रहित (स्थान में) सविता ने द्यौ (सूर्य) को दृढ़ किया हुआ है। जैसे घोड़े को झाड़ा जाता है। अचल में अन्तरिक्ष को सविता ने धुन डाला।

इस मन्त्र से यह प्रतीत होता है कि सविता के अर्थ आदित्य से अतिरिक्त भी हैं। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जिसने हिरण्यगर्भ में अग्नि (गरमी) उत्पन्न की थी, वह सविता था।

यास्क ने भी कहा है—

तथा च हिरण्यस्तूप इकस्तुतः। अर्चन हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच। ततभिवादिन्येषर्ग भवति।

अर्थात्—वैसे यह (सविता) हिरण्यस्तूप (सूक्त) में स्तुति किया गया है। उस सूक्त में कहा है कि इस (सविता) को कहने वाली यह ऋचा है।

इस मन्त्र में दो शब्द विशेष आये हैं। एक है 'अश्वम् इव अधुक्षत्', अर्थात् जैसे घोड़े को झाड़ा जाता है। और दूसरे में कहा है, 'अन्तरिक्षम् अतूर्ते', अर्थात् जैसे रूई धुनखने वाला रूई को धुनखता है वैसा ही अन्तरिक्ष को धुनख दिया गया। यह सब घटना हिरण्यगर्भ के काल की है। उसमें एक सम्वत्सर तक ताप में पककर तैयार हो गया तो सूर्य और अन्य नक्षत्र ऐसे दूर-दूर कर दिये गये जैसे घोड़ा अपने ऊपर की मट्टी झाड़ देता है अथवा जैसे धुनियां धुनखी से रूई धुनख देता है।

हिरण्यस्तूप सूक्त में सविता का वर्णन इस प्रकार किया है—

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाऽऽङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्॥
—ऋ० १०-१४६-५

अर्थात्—जैसे हिरण्यस्तूप (हिरण्यगर्भ) के अंग-अंग में सविता रस

अर्थात् बल पैदा करता है और इस अश्व (रचना करने वाले) में, जैसे तेरे में आहुति देता है, वैसे ही तेरी पूजा करता हुआ मैं जागता हूँ।

वेद में सोम सृष्टि-रचना का एक आवश्यक अंग समझा जाता है। कुछ लोग इसको पाँच भौतिक आकाश कहते हैं। आकाश से ही अन्य भूत बनते हैं।

इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सविता हिरणयगर्भ को उत्पन्न करने वाला उसका अंग होता है। कभी वह ही किसी मण्डल का सूर्य भी बन सकता है। उस अवस्था में सूर्य और सविता पर्याय हो जाते हैं।

## (७) प्रजापति—

यास्क कहता है—

प्रजापतिः प्रजानां पाता का पालयिता वा।

अर्थात्—प्रजापति का अर्थ है प्रजा का उत्पादक और पालक। परमात्मा अपने कार्य के लिए प्रकृति के सहाय की आकाँक्षा रखता है। जिसकी सहायता से वह ऐसा कर पाता है, वह प्रजापति है।

इसमें यस्क यह मन्त्र उपस्थित करता है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

—ऋ० १०-१२१-१०

यहाँ प्रजापति का अर्थ परमात्मा किया है, परन्तु शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति का अर्थ हिरणयगर्भ भी किया है। —(शतपथ० ६-१-१७७,८)

इन कुछ एक शब्दों का अर्थ लिखने से हमारा अभिप्राय यह है कि इन शब्दों के यौगिक अर्थ ही लेने चाहियें। निघण्टु में शब्दों के पर्याय अर्थात् यौगिक अर्थ दिये हैं।

उदाहरण के रूप में अश्व शब्द ले सकते हैं। निघण्टु में अश्व के पर्याय लिखे हैं। ये छब्बीस हैं और इस प्रकार हैं—

अत्यः, हयः, अर्वा, वाजी, सप्तिः, वह्निः, दधिक्राः, दधिक्रावा, एतग्वः, एतशः, पैद्वः, दौर्गहः, औच्चैश्रवसः, तार्क्ष्यः, आशुः, ब्रध्नः, अरुषः, मांश्चत्वः, अव्यथयः, सुपर्णाः, पतगाः, नरः, ह्वार्याणाम्, हंसासः, अश्वा। इत्यश्वानाम्।

जो अर्थ जिस स्थान पर उपयुक्त समझ आयें वे अर्थ लेने चाहियें। इस पर भी मन्त्रार्थ मन्त्र देवता से अटूट सम्बन्ध रखते हैं। मन्त्र के दवता के विपरीत अर्थ नहीं लिए जाने चाहियें।

# उपसंहार

इस पुस्तक में हमने वेद विषय में प्रवेश पाने के लिये कुछ एक आवश्यक बातों का ज्ञान कराने का यत्न किया है।

वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है और इसका पढ़ना-पढ़ाना तथा सुनना-सुनाना सब आर्यों का धर्म है।

आर्य समाज के इस नियम के अनुरूप ही आर्य जनों को प्रवृत्त करने के लिये हमने इस पुस्तक का विचार किया है और लिखने का यत्न किया है।

हमने यह प्रमाण एवं तर्क से सिद्ध करने का यत्न किया है कि परमात्मा है और उसे मनुष्यों को ज्ञान देने की आवश्यकता थी। यह ज्ञान मानव सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों ने परमात्मा से ग्रहण कर मनुष्यों को दिया।

वेद को जैसा हम समझे हैं, उसके अनुसार मानव सृष्टि, जैसी आज है वैसी ही, आज से उनतालीस लाख वर्ष पूर्व हुई थी। उस समय पृथिवी ने माता का काम किया था और सूर्य ने पिता का।

यह रचना कार्य उत्तरी ध्रुव के दक्षिण में किसी सुरक्षित स्थान पर हुआ था। वर्तमान ज्ञानवादियों के मस्तिष्क इसको स्वीकार नहीं करते। यह भविष्य के गर्भ में है कि पता चले कि जड़ कैसे चेतन युक्त हो सकता है ? क्या इसके चेतन होने में जीवात्मा और परमात्मा की आवश्यकता है अथवा नहीं ? जो कुछ वेद इस विषय में कहता है वह यह है कि जब इस पृथिवी पर शरीर बनाने की सामर्थ्य प्रकृति में आयी तब जीवात्माएँ इस पृथिवी पर ऐसे आयीं जैसे वर्षा की बूंदें आती हैं।

यह भी कहा है कि पहले आत्माएँ सूक्ष्म शरीर पाती हैं और उस सूक्ष्म शरीर में रहती हुई वे स्थूल शरीर को पृथिवी पर प्राप्त करती हैं। यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि वे वर्षा की बूंदों में नहीं आतीं वरन् वे वर्षा की बूंदों की भांति आती हैं। सूक्ष्म शरीर अविशेषों के बने होते हैं। ये हैं प्रकृति, महत्, अहंकार और तन्मात्र समूह। स्थूल शरीर बनता है विशेषों का। विशेष हैं इन्द्रियाँ और पंच महाभूत।

प्रकृति, महत् और अहंकार अव्यक्त हैं। परन्तु जब अहंकार गति में आते हैं तब वे व्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से अनुभव होने लगते हैं। अतः अहंकार (atomic particles) तो अव्यक्त (अदृश्य) हैं, परन्तु इनसे बने परिमण्डल

(atoms) व्यक्त अर्थात् दृश्यमान् हैं। क्योंकि अव्यक्त अहंकार परिमण्डल में गतिशील होते हैं।

अव्यक्त वस्तुएँ विज्ञान का विषय नहीं। विज्ञान से हमारा अभिप्राय आधुनिक विज्ञान ही है। इस विज्ञान में सब निरीक्षण उपकरणों (instruments) से किये जाते हैं और ये उपकरण सबके सब व्यक्त पदार्थों से बने होते हैं। व्यक्त पदार्थों की पहुँच अव्यक्त पदार्थों तक नहीं हो सकती।

इस कारण हमारा यह सुनिश्चित मत है कि जब तक वैज्ञानिक अपने अव्यक्त उपकरण (बुद्धि) का प्रयोग नहीं करते, तब तक वे अव्यक्त पदार्थों का रहस्य नहीं जान सकेंगे। इस अव्यक्त उपकरण (बुद्धि) का कुशल होना अत्यावश्यक है। यह तो व्यक्त उपकरणों के लिये भी आवश्यक है कि वे भी अधिक से अधिक कुशल हों। बुद्धि को कुशल करने का उपाय ध्यान और समाधि है। इससे ही अव्यक्त पदार्थों के रहस्य को जाना जा सकता है।

संस्कृत भाषा का ज्ञान तो आवश्यक है ही। साथ ही निरुक्त का ज्ञान भी आवश्यक है। निरुक्त भाषा ज्ञान और व्याकरण से कुछ अधिक प्रकट करता है। उस अधिक को जाने बिना वेदार्थ सुलभ नहीं हो सकते।

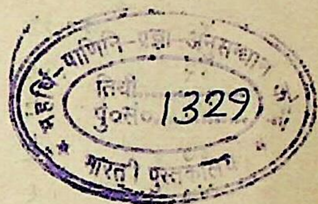
यह स्मरण रखना चाहिये कि वेद में तो वर्णनात्मक कथन ही है। इसके सत्य असत्य निर्णय करने के लिये ऋषियों ने दर्शन शास्त्र कहे हैं। दर्शन शास्त्र वेद के कथन को तर्क से सिद्ध करने के लिये कहे गये हैं।

वेद तर्क सिद्ध है।

---

# प्रमाणामनुक्रमणिका


1329



# वेद प्रवेशिका

## शुद्धि-पत्र

ग्रंथ में मुद्रण की कई अशुद्धियां हैं। नीचे केवल कुछ-एक अत्यावश्यक अशुद्धियों के शुद्ध रूप प्रस्तुत कर रहे हैं जिनसे भाव समझने में कठिनाई न हो। पाठक कृपया इन अशुद्धियों को दूर कर लें।

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १८ | ६ | रत्नाधतमम् | रत्नधातमम् |
| २१ | २८ | अनश्न्नन् | अनश्नन् |
| २४ | १७ | परता | परतः |
| २५ | ४ | ···यजस्तस्मादजायते | ···यजुस्तस्मादजायत |
| २५ | २६ | त्येक्तेन | त्यक्तेन |
| ३० | २५ | यज्ञोः | यज्ञः |
| ३१ | ४ | चक्र | चक्रुः |
| ३१ | ३० | छन्द से | अनुष्टुप् छन्द से |
| ३१ | ३१ | बृहस्पती | बृहस्पतेः |
| ३१ | ३१ | की | से |
| ३२ | ४ | जगति | जगत्या |
| ३२ | ४ | जगति | जगती |
| ३२ | १६ | उष्णिहा | उष्णिक् |
| ३५ | ४ | यद्वाग्वदन्त्याविचे··· | यद्वाग्वदन्त्यविचे |
| ३५ | ६ | देवीं | दैवीं |
| ३५ | २६ | सुष्टुत अप एत | सुष्टुता एतु |
| ४० | ३२ | शौणिक | शौणक |
| ४१ | ३ | ···पादाम् | ···पादानाम् |
| ४१ | ५ | गछति | गच्छति |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ४२ | २ | भवतीति | भवति |
| ४२ | १३,१४ | प्रतिवेदार्थ | प्रतिषेध |
| ४२ | २६ | सविस्तार | सविस्तर |
| ४६ | ३ | अन्विते | अनन्विते |
| ४७ | ६ | जायमान | जायमानः |
| ४७ | ६ | यन | यन् |
| ४७ | ६ | उत् | उत |
| ४७ | १४ | अश्व | अश्वः |
| ४७ | २६ | यद्वाः | यद्वा |
| ४८ | १६ | उद्यम् | उद्यन् |
| ४६ | १२ | सो यं | सोऽयं |
| ४६ | २५ | यहां | वहाँ |
| ५० | १६ | मातरिश्व | मातरिश्वा |
| ५१ | १६ | प्रथस | प्रथम |
| ५१ | १८ | माध्यमक | माध्यमिक |
| ५१ | २६ | त्रैयः | त्रयः |
| ५१ | ३० | गृ बृवूकम् | बृवूकम् |
| ५४ | १८ | विनतो | विततो |
| ५४ | १८ | स्तिदासी३त् | स्विदासी३त् |
| ५४ | २१ | विनतः | विततः |
| ५४ | २३ | ···महिमा | ···महिमान |
| ५५ | २३,२५ | कपि | कपिल |
| ५६ | २७ | श्रूधी | श्रुधी |
| ६० | २४ | तोस्त्रिविधा | तास्त्रिविधा |
| ६१ | ६ | ···ज्यन्ते। | ···ज्यन्ते। प्रथमपुरुषैश्चा-ख्यातस्य ॥ |
| ६१ | १६ | अधि जात। | अधि सहसो जात ओजसः। |
| ६१ | २० | पूर्व्युस्पतिः | पूर्व्यस्पतिः |
| ६४ | ४ | चावीस | चौबीस |
| ६६ | ६ | अश्व | अत्यः |
| ६६ | ६ | ह्र्यः | ह्यः |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ६६ | १० | वहिन: | वह्निः |
| ६६ | १० | दधिका: | दधिक्रा: |
| ६६ | ११ | ब्रधन: | ब्रध्न: |
| ६६ | ११ | सुपर्णा: | श्येनास: सुपर्णा: |
| ६६ | १२ | हंसात्स: | हंसास: |
| ६६ | २९ | प्रवजन | प्रव्रजन |
| ७० | ७ | ज्ञानोत्पत्तिस्त्रेषां | ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां |
| ७० | १३ | वेद से | वेद के |
| ७२ | १९ | infallable | infallible |
| ७५ | १५ | प्रवजन | प्रव्रजन |
| ७७ | १ | व्रिभ्रत | विभ्रत् |
| ७८ | २२ | द्योर्यस्मिन्न | द्यौर्यस्मिन्न |
| ७९ | १६ | प्रविवेष | प्रविवेश |
| ८३ | ५ | भूत्यर्ष | भूत्यर्थ |
| ८३ | १८ | इक्ष्वाकुणा व | इक्ष्वाकुणा च |
| ८३ | १८ | व्यापय | व्याप्य |
| ८३ | १८ | लौकान''' | लोकान''' |
| ८४ | ९ | प्रचार | आविर्भाव |
| ८५ | ४ | वन्धर | धन्धर |
| ८५ | ६ | ३९ | ९३ |
| ८५ | ८ | मुलुखचन्द्र | मलुखचन्द्र |
| ८५ | १० | अंध सेन | आधी सेन |
| ८५ | २७ | उपरलिखित | उपरिलिखित |
| ८६ | ७ | उच्चारित | उच्चरित |
| ८६ | ९ | हमें | हम |
| ८९ | १२ | सममनन्ति | समामनन्ति |
| ९० | ६ | आनीदवात | आनीत् अवातं |
| ९० | १३ | ब्रह्मण | ब्राह्मण |
| ९० | १५ | प्राणा | प्राण: |
| ९१ | ५ | आधिष्ठित | अधिष्ठित |
| ९२ | ११ | अर्णव | अर्णवः |



| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ९३ | २६ | लगभग पर | पर |
| ९३ | २८ | (gasseus) | (gasseous) |
| ९३ | २९ | अकाशीय | आकाशीय |
| ९४ | ७ | अजायन्तः | अजायन्त |
| ९५ | २० | मृत खण्डों | मृत अण्डों |
| ९५ | ३२ | त्पत्पुनमार्ताण्ड··· | त्पत्पुनर्मार्तण्ड··· |
| ९७ | १३ | होतु | होता |
| ९७ | २६ | यजुवद | यजुर्वेद |
| ९९ | १५ | निष्टपतॅ॒ | निष्टप्तॅ॒ |
| १०० | १९ | सुर्य्यस्य | सूर्य्यस्य |
| १०१ | ८ | शूद्रोऽजायतः | शूद्रोऽजायत |
| १०१ | २१ | यजु० २२-३३ | यजु० २२-२२ |
| १०४ | २ | स्वद्व्त्यन··· | स्वाद्वत्त्यन··· |
| १०६ | १९ | महद्देवनाम··· | महद्देवानाम··· |
| १०६ | २४,२५ | अपाः | अपः |
| १०७ | १६ | हिरण्यस्मू | हैरेण्यस्तूपे |
| १०७ | १६ | इकस्तुतः | स्तुतः |
| १०७ | १६ | अर्चन | अर्चन् |
| १०७ | १७ | ततभिवादिन्येषर्ग-भवति । | तदभिवादिन्येषर्भवति |
| १०८ | ५ | हिरणयगर्भ | हिरण्यगर्भ |
| १०८ | १० | का | वा |
| १०८ | २६ | अव्यथयः, | अव्यथयः, श्येनासः |
| ११२ | ९ | व कथितो | च कथितो |
| ११२ | ११ | उच्चावचेऽवर्थेषु | उच्चावचेष्वर्थेषु |
| ११२ | ३१ | तस्माद्यजात् | तस्माद्यज्ञात् |
| ११३ | ७ | वमग्ने | त्वमग्ने |
| ११३ | ८ | अधिज़ात | अधिजातः |
| ११३ | १३ | देवानी | देवानां |
| ११४ | ११ | यद्वाग्व··· | यद्वाग्व··· |
| ११४ | २५ | व्याप्तिकत्त्वातु | व्याप्तिमत्त्वातु |


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी.........
पु०सं०...1329...
भारती पुस्तकालय


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी
पु०सं० 1329
भारती पुस्तकालय

